श्री

२

[©त्र

प्राप्ति

सुधीर कुमार चतुर्वे

आमुख

ठोपनिषद् कृष्ण यजुर्वेदीय कठशाखाके अन्तर्गत एक महत्वपूर्ण उपनिषद् है। इसमें
ाय हैं, प्रत्येक अध्यायमें ३-३ वल्लियाँ हैं, इसमें यमराज और नचिकेताके संवाद
ब्रह्मविद्याका विशदवर्णन है, इसकी वर्णनशैली अतिसुबोध एवं सरल है
ावद्गीतामें भी इसके कई मन्त्रोंका कहीं शब्दतः और कहीं अर्थतः उल्लेख है
न्य उपनिषदोंकी भाँति जहाँ तत्त्वज्ञानका गम्भीर विवेचन है वहाँ नचिकेताक
ाठकोंके सामने एक अनुपम आदर्श भी उपस्थित करता है। जब वे देखते हैं वि
देनेके अयोग्य गौए ऋत्विजोंको दक्षिणारूपसे दे रहे हैं, तब पितृभक्त नचिकेता
पाप करनेसे रोकनेके लिए उसके समीप जाकर कहा—'तत कस्मै मां दास्यसि
ार पुनः पुनः पूछनेपर वाजश्रवसने क्रुद्ध हो 'यमाय त्वां दास्यामि' ऐसा कहा
चिकेताने पिताके द्वारा क्रोधवश कहे वचनकी उपेक्षा न कर उसका अक्षरश
केया। वर्तमान युगमें प्रायः लोगोंकी इसप्रकारके अनभिप्रेत एवं अनर्गल कथनक
रखनेके लिए इतना सरदर्द मोललेना केवल पागलपन ही जान पड़ेगा किन्तु उन
रहस्य समझनेके लिए कुछ गम्भीर विचारकी आवश्यकता है। योगदर्शनके साधनपाद
', सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह' इन पाँच यमोंका नाम निर्देशकर फि
'जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्' (यो० २।३१) 'जाति
'ल और कर्तव्यानुरोधकी अपेक्षा न कर इनका सर्वथा पालन करना महाव्रत है' तथ
ादिकी अपेक्षासे पालन करना अल्पव्रत है। इस अल्पव्रजमें ही सुविधा आदिक
है महाव्रतमें नहीं। महाव्रतपालन करनेसे ही अभीष्ट सिद्धि प्राप्त होती है
ाका यमलोक गमन केवल उन्हींके लिए नहीं, प्रत्युत उनके पिता और सा
लिए हितकर हुआ।

ालोक पहुँचकर नचिकेताने सत्यनिष्ठाका परिचय दिया इसपर यमराजने तीन व
तिथि सत्कारका महत्त्व प्रकट किया, अतिथिकी उपेक्षा करनेसे जो हानि होती है
कठ० १।१।७-८) स्पष्टरूपसे बतलायी गयी है। नचिकेताने तीन वरोंमें
रसे पितृपरितोष, दूसरेसे स्वर्गका साधन अग्निविद्या-यज्ञज्ञान और तृतीयसे आत्म

छन्दतः प्रार्थयस्व' (कठ० १।१-२३-२५)इत्यादि प्रलोभन दिया, किन्तु नचिकेत
मर्त्यस्य' इत्यादिसे अनात्मपदार्थोंमें दोषदर्शन दिखाकर साधनचतुष्टयसम्पन्न आत्मा
अपना परिचय दिया। इस प्रकार जब यमराजने अनुभव किया कि वे लौकिक एवं
भोगोंसे सर्वथा उदासीन हैं, उसमें मुमुक्षारूपी अग्नि तेजीसे धधक रही है तो
शान्तिके लिए ज्ञानामृतकी वर्षा करनी पड़ी वह ज्ञानामृत वर्षा ही सभी लोगोंक
करनेके लिए आज भी कठोपनिषद्के रूपमें विद्यमान है। विशुद्ध बोधरूप अंकु
हृदयरूपी विशुद्ध भूमिमें स्फुट हो सकता है जो नचिकेताके समान साधन च
है। मेघ जल तो सब जगह बरसाते हैं, परन्तु परिणाम भिन्न-भिन्न भूमियों
नुसार भिन्न-भिन्न होता है। ठीक यही बात शास्त्रोपदेशके विषयमें भी है।
ईश्वरकृपा तो सभीपर समान है परन्तु आत्मकृपाकी न्यूनाधिकताके कारण उस
परिणामोंमें अन्तर रहता है। 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' 'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः
श्रुतिवाक्य तत्त्वज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्ति कहते हैं, अतः उसे प्राप्त करनेके लि
सम्पादन करनी चाहिए, क्योंकि 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहा
विनष्टिः' (केन० २।५) इस श्रुतिके अनुसार मानवजीवनका परम ला
उपयोगिता) आत्मप्राप्तिमें ही है। अतः आत्माको यथार्थरूपसे जानना ही
प्रथम कर्तव्य है।

अन्य उपनिषदोंके समान इस उपनिषद्पर भी भगवत्पाद जगद्गुरु श्रीमद
चार्यने संस्कृतभाषामें सरल एवं सुबोधभाष्यकी रचना की है, संस्कृतमें होने
जनसाधारणको उससे पूरा लाभ होना कठिन है, अतः मन्त्रोंके प्रत्येक वर्णक
पर्याय देकर उसका हिन्दी अनुवाद भी किया गया है तथा भाष्यका सरल सु
अनुवादकर भाष्यके तात्पर्यको अतिस्पष्ट करनेके लिए उसपर अनेकदर्शनों एवं टी
आधारपर हिन्दीभाषामें 'सत्यानन्दीदीपिका' प्रस्तुत की गयी है, आशा है कि
इस ग्रन्थरत्नसे पूरा-पूरा लाभ उठा सकेंगे।

उपनिषद् शब्दार्थ

अत्र चोपनिषच्छब्दो ब्रह्मविद्यैकगोचरः। तच्छब्दावयवार्थस्य विद्यायामेव संभ
उपोपसर्गः सामीप्ये तत्प्रतीचि समाप्यते। सामीप्यतारतम्यस्य विश्रान्तेः स्वात्मनीक्ष
त्रिविधस्य सदर्थस्य निशब्दोऽपि विशेषणम्। उपनीयेममात्मानं ब्रह्माऽपास्तद्वयं
निहन्त्यविद्यां तज्जं च तस्मादुपनिषद्भवेत्। निहत्यनर्थमूलं साऽविद्यां प्रत्यक्तया
गमयत्यस्तसम्भेदमतो वोपनिषद्भवेत्। प्रवृत्तिहेतून्निःशेषांस्तन्मूलोच्छेदकत्व
यतोऽवसादयेद्विद्या तस्मादुपनिषद्भवेत्। यथोक्तविद्याहेतुत्वाद्ग्रन्थोऽपि तदभि

पादपद् शब्दका अर्थ ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान है 'उपनिषदं भो ब्रूहि' इस प्रकार
ी उपनिषद् शब्दका प्रयोग पाया जाता है। 'एकार्थत्वसंभवति अनेकार्थ-
ाय्या' इस न्यायसे भी उपनिषद् एकार्थक ही है अनेकार्थक नहीं। इसलिए
थमें 'उपनिषद्' शब्दका प्रयोग अनुचित है। उपनिषद्का अवयवार्थ भी
ी संभव है। यथा--उपनिषद्में चार अवयव हैं--'उप, नि, सद् और क्विप्'
ुप्त है और शेष तीन विद्यमान हैं। उप-सामीप्य, नि-निश्चय, 'सद्' धातुका
।, गति और अवसादन है, और 'क्विप्' प्रत्ययका अर्थ कर्ता है। 'अत: शुद्धं
र्थसामीप्योपलक्षितं ब्रह्म निश्चितं नीत्वा-स्वरूपं ग्राहयित्वा-सकार्यां समूलां
थिलयति नाशयति या सा उपनिषद्' इस प्रकारकी व्युत्पत्तिसे शुद्ध-अविद्यादि
जीवको सामीप्योपलक्षित ब्रह्मके पास ले जाकर ब्रह्मस्वरूपका बोध कराकर
मूल अविद्याका जो नाश करती है वह उपनिषद् है ॥ ३ ॥

र्थ सामीप्य दो प्रकारका है—सातीशय और निरतिशय। जैसे बाह्य
क्षा शरीर आत्माके समीप है, उसकी अपेक्षा इन्द्रियाँ, उनकी अपेक्षा मन।
। सातीशय है और निरतिशय समीप तो आत्मस्वरूप है। 'मुख्यार्थसंभवे
य्य:' 'मुख्यार्थका संभव हो तो गौरा अर्थका ग्रहण अनुचित है' अत:
तम्यकी विश्रन्ति निरतिशय सामीप्यमें ही होती है वह निरतिशयस्वरूप
। इसलिए यहाँ सामीप्योपलक्षित स्वरूप विवक्षित है। 'कादाचित्कत्वे
त्वमुपलक्षणत्वम्' 'उपलक्षण वह है जो कभी लक्ष्यमें रहकर अविद्यमाना-
ार व्यावर्तक हो' जैसे 'पुस्तकपाणिच्छात्र:' यहाँ पुस्तक उपलक्षण है सदा
नहीं रहता, वैसे ही संसारदशामें काल्पनिक धर्मधर्मिभाव ब्रह्ममें है, अत:
भी काल्पनिक है, परमार्थदशामें काल्पनिक सामीप्यके न रहनेपर भी
दुपलक्षित करनेमें कोई बाधक नहीं है ॥ ४ ॥

' अर्थ विशरण, गति और अवसादन है। उपसर्ग धात्वर्थका द्योतक होता
के अर्थका प्रथम धात्वार्थमें अन्वय होता है 'पूर्वं धातुरुपसर्गेण पुज्यते
ऐसा शाब्दिकोंका संप्रदाय है, इसके अनुसार 'त्रिविधस्य' इत्यादि लिखते
निश्चय गति, विशरण और अवसादनरूप त्रिविध सदर्थमें विशेषण है उसके
। विशेषण है, क्योंकि विशेषणताप्रयोजकत्वरूप विशेषणत्व निशब्दमें भी
गति, निश्चित विशरण और निश्चित अवसादन यह अर्थ हुआ। 'विशेष्ये
विशेषणम्' इस न्यायसे निशब्दार्थ विशेषित सदर्थमें उप-शब्दार्थ विशेषण

ना। अनर्थमूल अविद्या और उसके कार्य जगत्को समूल निवृत्त कर चैतन्य परब्रह्मस्वरूपताका बोध कराती है वह विद्या उपनिषद् है। कुछ दार्शनिक विद्वा शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार बतलाते हैं—'उपनिषादयति सर्वानार्थसंसारं संसारकारणभूतामविद्यां च शिथिलयति ब्रह्म च गमयति च' इस प्रकार ब्रह्म उपनिषद् नामसे कहा गया है। 'वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि सूत्रादीनि च' 'दु:खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तोत्तरपाये तदनन्तरापायादपव इस न्यायसूत्रके अनुसार मिथ्याज्ञान ही संसारका कारण है, क्योंकि मिथ्याज्ञ द्वेष मोह आदि दोष होते हैं। 'प्रवर्त्तनालक्षणा दोषा:' इस सूत्रके अनुसार इ शुभ प्रवृत्ति, उससे जन्म और जन्मसे इनकी पुन: उत्पत्ति। इस प्रकार समान इस प्रवाहका उच्छेद नहीं होता। जन्म होनेपर दु:ख अवश्यंभावी है। दु:खका उच्छेद ही मोक्ष है, परन्तु वह तभी संभव है जब संसारके मूलभूत मिथ निवृत्ति हो, मिथ्याज्ञानकी निवृत्तिसे सब दोषोंकी निवृत्ति स्वत: सिद्ध है मतमें 'प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्ड सच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्नि:श्रेयाधिगम: (न्या० १।१) इन सोलह ज्ञान तत्त्वज्ञान है, वैशेषिकमतमें 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावा पदार्था:' इन सात पदार्थोंका साधर्म्य वैधर्म्य ज्ञान तत्त्वज्ञान है। सांख्यतममें 'मू रविकृतिर्महदाद्या: प्रकृतविकृतय: सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृति: (सां० ३) '१ मूलप्रकृति वह किसीका विकार-कार्य नहीं है, महत्, अहङ्कार तन्मात्राएँ सात कार्यकारणरूप हैं, आकाशादि पाँचभूत और ग्यारह इन्द्रियाँ ये १६ रूप हैं, कार्यकारणभावसे रहित १ पुरुष) इन पचीस तत्त्वोंका ज्ञान-विवेकख्याति है। योगमतमें ईश्वर सहित सांख्योक्त पदार्थोंका ज्ञान तत्त्वज्ञान है। शून्य ही शून्यवादी बौद्ध और विज्ञान ही तत्त्व विज्ञानवादी बौद्ध कहते हैं। जीव और दो तत्त्व आर्हत जैन मानते हैं। जीवब्रह्मैक्य ज्ञान ही तत्त्वज्ञान है ऐसा अ कहते हैं। इसलिए आत्मैकत्वज्ञान प्रवृत्त्यादिके मूलभूत रागादिदोष सहित अ नाशकर स्वाभिन्न ब्रह्मरूप मोक्षकी प्राप्ति कराता है, अत: 'गमयति बोधयति-प्रव साक्षात्कारयति' यह अर्थ है, क्योंकि 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' ऐसी श्रुति है। इससे उ शब्दका मुख्यार्थ ब्रह्मविद्या ही है, परन्तु 'तादर्थ्यात्तच्छब्द: 'इस न्यायसे ब्रह्मा प्रतिपादक होनेसे ग्रन्थमें भी उपनिषद् शब्दका गौण प्रयोग होता है। इसमें एक है—'लाङ्गलं जीवनम्' 'कृषकका जीवन हल है' हल तो वस्तुत: जीवन नहीं है जीवनका साधन है। यथा 'अन्नं वै प्राणा:' यह वैदिक दृष्टान्त है। अन्न प्र साधन होनेसे 'अन्नं वै प्राणा:' ऐसा प्रयोग किया गया है।

द्धते विपरिणमते अपक्षीयतेऽथ विनश्यति' अपक्षय-अवयव शैथिल्यके अनन्त
होना। इस वचन और लोकानुभवसे यह क्रम सिद्ध होता है कि अवयव शैथिल्यके
अवसादन-विनाश होता है। यह कोई ऐकान्त नियम नहीं है कि धातुके स
पत् होने चाहिए। अवयव शैथिल्य कहनेका प्रयोजन यह है कि तत्त्वज्ञानी द
होते हैं–जीवन्मुक्त और परममुक्त! जीवन्मुक्तमें किञ्चित्कार्यरूपसे अविद्या रहत
ा उसकी भिक्षादिमें प्रवृत्ति नहीं होगी। तत्त्वज्ञान उत्पन्न होकर भी यदि व
कार्य अविद्याका निवर्तक न हुआ तो विद्यामें अविद्यानिवर्त्तकत्व सिद्ध नहीं होग
वेद्यानिवर्त्तक विद्याकी प्राप्तिके लिए अध्यात्मशास्त्रके श्रवण आदिमें भी किसीक
ाहीं होगी, इसलिए विद्याके दो कार्य हैं अविद्या-शैथिल्य और अविद्यानाश
में नाश सहित विद्या अविद्याकी निवर्त्तिका है और प्रारब्धकर्म सहित विद्य
ी शैथिल्य संपादिका है। जीवन्मुक्तमें नाश प्रतिबन्धक प्रारब्धकर्म सहित विद्या
ा नाश न होनेपर भी नाश प्रागवस्थारूप अवयव शैथिल्य अवश्य होता है
ते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥
२।२।८) 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' (गी० ४।३७) इत्यादि
ति वचनोंसे तत्त्वज्ञान सर्वकर्मनाशक प्रतीत होता है तो प्रारब्धकर्मका नाश क्य
? 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० ६।१४।२) 'नाभुक्त
कर्म कल्पकोटिशतैरपि' इत्यादि श्रुति, स्मृति वाक्योंसे पूर्वोक्त वचनोंके विरो
र्थ प्रारब्धकर्मातिरिक्त कर्मनाशत्वमें इन वचनोंका तात्पर्य मानना चाहिए अथव
में ही यावत्कर्म नाशत्व है और उसके पूर्वज्ञानमें अविद्याशैथिल्य जनकत्व
नहीं, चरमज्ञानके तात्पर्यसे 'भिद्यते' इत्यादि वाक्य हैं और पूर्वज्ञानके तात्पर्य
वदेव' इत्यादि वाक्य हैं। इस प्रकार विषयभेद होनेसे दोनों वाक्योंमें परस्प
नेवृत्त हो जाता है। जीवन्मुक्तावस्था तो माननी चाहिए अन्यथा तत्त्वज्ञानोत्पादक
निर्माण ही असंभव हो जायगा, क्योंकि यदि तत्त्वज्ञानोत्पत्तिकालमें ही यावत्क
होनेके कारण शरीर पात हो जाय तो शरीरेन्द्रियादिके न होनेपर शास्त्रक
कैसे होगा साथ साथ तत्त्वज्ञानका संप्रदाय भी नष्ट हो जायगा, कोई भी तत्त्व
द्व नहीं होगा, अतएव जीवन्मुक्तावस्था अवश्य माननी चाहिए।

अद्वैतवाद आदिका विचार

मान जगत्का मूलतत्त्व प्रकृति, द्रष्टा जीव और ब्रह्म ये तीनों पदार्थ अनादि हैं
ईश्वरवादी दार्शनिक मानते हैं। परन्तु इनके स्वरूपनिर्णय और तत्त्वनिर्णय
ईश्वरवादियोंमें अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद ...

अद्वैतवादके अनेक भेद हैं-औपनिषद् अद्वैतवाद (ब्रह्माद्वैतवाद) विशिष्टाद्वैतवाद, ... द्वैतवाद, शब्दाद्वैतवाद, शून्याद्वैतवाद आदि।

अद्वैतवाद-औपनिषद् अद्वैतवाद वा ब्रह्माद्वैतवाद-'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'आ... ब्रह्म' 'ब्रह्म सत्, चिद्, अनन्त और आनन्दरूप है' 'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मा... ये श्रुतिवाक्य कहते हैं कि जीव ब्रह्म है। औपाधिक भेद होनेपर भी तत्त्वतः ब्रह्मरूप ही है। नित्य निरतिशय आनन्दस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति और अविद्या सहित ... दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति मोक्ष है, उनका साधन जीवब्रह्मैक्य ज्ञान है। माया सद... विलक्षण अनिर्वचनीय और परतन्त्र तत्त्व है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव ना... ऐसा होते भी जगत्को व्यावहारिक सत्य मानते हैं।

विशिष्टाद्वैत-यह श्रीमद्रामानुजाचार्यका मत है-जीव, जगत् और ईश्वर ये ... तत्त्व सत्य हैं। यद्यपि ये परस्पर भिन्न हैं, तो भी एक दूसरेको छोड़कर नहीं रह स... जीव चित्-चेतन और जगत् अचित्-जड़ है दोनों ईश्वरके शरीर हैं, अतः चिदचिद् वि... ईश्वर एक है यही विशिष्टाद्वैत है। जीव ब्रह्मरूप नहीं है किन्तु ईश्वरका अंश अणु है। ईश्वर सगुण सविशेष और साकार है उसमें ही वेदान्तोंका तात्पर्य है निर्वि... नहीं, क्योंकि निर्विशेष वस्तुका प्रतिपादन असंभव है। भक्ति और प्रपत्ति-शरणाग... प्रसन्न हो ईश्वर भक्तको मोक्ष देता है। वैकुण्ठलोकमें दासभावसे रहकर दिव्यलीला... दर्शन करना ही मोक्ष है।

शक्तिविशिष्टाद्वैत-श्रीपति पण्डितका है, यह शैव संप्रदायके अनुसार है।

शुद्धाद्वैतवाद-इसके प्रचारक श्रीमद्वल्लभाचार्य हैं इसके मतमें ब्रह्म नित्य शुद्ध मुक्त निगुंण, निर्विशेष है अखिल लीला निकेतन अखण्ड रसामृत सिन्धु गोलोकाधिपति कृष्णचन्द्र ही ब्रह्म है वही वेदान्तैकवेद्य सच्चिदानन्दरूप है, जैसे कल्पवृक्ष, का... चिन्तामणि आदि स्वविकारके विना अभीष्ट वस्तुको उत्पन्न करते हैं वैसे ही अ... ब्रह्मसे जगत् उत्पन्न होता है। शुद्धाद्वैतमें ब्रह्म ही जगत् है और सत्य है 'हरिरेव जगदेव हरिः'। जगत् ब्रह्मका रूपान्तर है। जगत् और संसार एक नहीं किन्तु भिन्न हैं, संसार अविद्याजन्य व जीवाश्रित है। जीव ब्रह्मका अग्नि-चिनगारियोंके समान है, अणु और नित्य है। यद्यपि वस्तुतः जीव शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप है, तथापि दशामें कर्ता, भोक्ता आदि है। मुक्तावस्थामें जीवगत संसारका नाश होनेपर शु... जाता है, शुद्ध जीवका ब्रह्मके साथ अभेद है। दोनोंके अभेदको शुद्धाद्वैत क... 'स्थितिर्वैकुण्ठविजयः पोषणं तदनुग्रहः' (भाग० २।१०।४) गोलोकमें गोपी

तवाद—इसके प्रचारक श्रीमन्मध्वाचार्य हैं। स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र भेद से दो
। ईश्वर (विष्णु) स्वतन्त्र है और जगत् एवं जीव परतन्त्र हैं। जगत्के उत्पत्त्या-
रसे होते हैं, वह वैकुण्ठाधिपति विष्णु है। जगत् सत्य और परिणामी नित्य है।
में पाँच भेद हैं—जीव ईश्वर भेद, जीव जड़ भेद, ईश्वर जड़ भेद, जीवोंका परस्पर
ड़ोंका परस्पर भेद। ये पाँचों भेद सत्य हैं, इनका ज्ञान मुक्तिके लिए आवश्यक
जीव अणु और प्रत्येक शरीरमें भिन्न है। भक्तिद्वारा भगवान्के अनुग्रहसे सालोक्य
, सामीप्य एवं सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है।

ताद्वैतवाद—यह श्रीमन्निम्बार्काचार्यका मत है—यद्यपि जीव, जगत् और ईश्वर ये तीनों
भिन्न हैं, तथापि जीव और जगत् व्यापार तथा अस्तित्व ईश्वरेच्छा अधिन है स्वतन्त्र
रमेश्वरमें ही जीव और जगत्के सूक्ष्मतत्त्व रहते हैं। ईश्वरके चार रूप हैं—१. परम-
रम तत्त्व, २. अपर अमूर्त-ईश्वर सर्वद्रष्टा सर्वशक्तियोंजा उद्गमस्थान, ३. परमूर्त-
गर्भ सब व्यक्त रूपोंका मूल स्रोत है, ४. अपरमूर्त-अत्यन्त भिन्नरूप जीव है। इस
ब्रह्म द्वैत और अद्वैत दोनों हैं। मुक्तावस्थामें जीव अपना और जगत् ब्रह्मके साथ
ा अनुभव करता है, मुक्तिका साधन भक्ति है।

द्वैतवादके प्रचारक एवं प्रसारक भगवत्पाद आद्य शङ्कराचार्य थे वे सातवीं शताब्दीमें
ेत हुए थे। विशिष्टाद्वैतके प्रचारक श्रीमद्रामानुजाचार्य ११ वीं शताब्दीमें,
वादके प्रचारक श्रीमद्निम्बार्काचार्य १३वीं शताब्दीमें, द्वैतमतके प्रचारक
ध्वाचार्य १३ वीं शताब्दीमें और शुद्धाद्वैतवादके प्रचारक श्रीमद्वल्लभाचार्य १६
ीमें हुए हैं।

पाश्चात्य विद्वानोंपर उपनिषदोंका प्रभाव

पनिषदोंके सिद्धान्त इतने गूढ एवं सार्वभौम हैं कि उनका विद्वानोंपर चाहे वे किसी
निवासी और किसी धर्मके अनुयायी क्यों न हों गहरा प्रभाव पड़ा है। किसी
र्म-ग्रन्थको इतरधर्मावलम्बियोंसे ऐसा व इतना हार्दिक एवं अकृतिम आदर प्राप्त
आ है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि उपनिषद् भारतियोंके सर्वश्रेष्ठ धार्मिक
आत्मिक ग्रन्थरत्न है। प्रत्येक भारतीय चाहे वह वैष्णव, शैव, शाक्त आदि किसी
का क्यों न हो, उपनिषदोंको सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रन्थरूपसे अवश्य स्वीकार
है। प्रत्येक हिन्दुके धार्मिक विश्वासका आधार वेद हैं और वे अपौरुषेय हैं, अतएव
किसी प्रकारके भ्रम एवं प्रमादकी तनिक भी संभावना नहीं की जा सकती।
द् वेदोंके सारभाग हैं। वेदोंके संहिता एवं ब्राह्मणभागोंमें अधिकतर कर्म एवं
ा और बहुत थोड़े स्थलोंमें परब्रह्मका उल्लेख है। परन्तु उपनिषद् तो परापरब्रह्म,
वरूप, जीवात्माके स्वरूप, ब्रह्म साक्षात्कारके उपाय, ब्रह्म साक्षात्कार उसके

अथवा दर्शनोंमें या तो उन्हें मिला ही नहीं और यदि मिला भी तो बहुत
रूपमें। उदाहरणार्थ—ब्रह्म अथवा ईश्वरका स्वरूप क्या है? जीवात्मा कि
है? संसारकी रचना किस तत्त्वसे हुई है? मरणानन्तर जीवकी स्वर्ग, नरक
कब तक एवं कैसे रहती है और पश्चात् कैसे होती है? देहकी रचनाके पू
अस्तित्व था क्या? कुछ जन्मसे सुखी और कुछ जन्मसे दुःखी क्यों? इ
प्रकारके अन्य प्रश्न ऐसे हैं जो सूक्ष्म दृष्टिसे दर्शनशास्त्रका अवलम्बन कर
व्यक्तिके मनमें प्रायः उठते हैं। वेदान्तदर्शनमें इनका इतना पूर्ण वैज्ञानिक
उत्तर है कि जिसका प्रत्येक जिज्ञासुके मनपर प्रभाव पड़े विना रह नहीं सक

वेदान्तदर्शनकी महिमा व गरिमापर मुग्ध होनेवाले विदेशी विद्वानों
थे अरबदेशीय अलबेरूनी। ये ११ वीं शताब्दीमें भारत आये और
अध्ययनकर उपनिषदोंकी साररूपा गीतापर मुग्ध हो गये। उन्होंने उपनिष
किया कि नहीं, पर गीताकी जो उन्होंने प्रशंसाकी उसे उपनिषदोंकी ही प्र
चाहिए।

मुगल सम्राट् शाहजहाँका ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह उपनिषदोंकी महिम
प्रभावित हुआ कि उसने राज-पण्डित जगन्नाथसे संस्कृतका भली-भाँति अध्य
उपनिषदोंका फारसीमें अनुवादकर डाला। इस फारसी अनुवादका फ्रां
अनुवाद हुआ। इस फ्रांसीसी अनुवादकी एक प्रति-कापी जर्मनीके प्रसिद्ध
हरके हाथ लगी। समस्त विदेशी विद्वानोंमें उन्होंने इन ग्रन्थोंकी सबसे
की। वे कहते हैं—१. सम्पूर्ण विश्वमें उपनिषदोंके समान जीवनको ऊँचा
कोई अन्य अध्ययनका विषय नहीं है। उनसे मेरे जीवनको शान्ति और मृत्यु
मिलेगी। शोपेनहरके इन्हीं शब्दोंको उद्धृत करते जर्मनीके विद्वान् मैक्समूल
२. शोपेनहरके इन शब्दोंके लिए यदि किसी समर्थनकी आवश्यकता
जीवन भर अध्ययनके आधारपर मैं उनका सहर्ष समर्थन करूँगा। उपनिषदों

---

1. In the whole world, there is no study elevatin
of the UPANISADS. It has been the solace of
It will be the solace of my death.
2. If these words of Schopenhauer required a
rmation, I would willingly give it as a result o
long study

अद्भुत सिद्धान्तोंका उल्लेख करते शोपेनहरने फिर कहा—३. वे सिद्धान्त एक ह
प्रकारके अपौरुषेय ही हैं। वे जिनके मस्तिष्ककी उपज हैं उन्हें निरे मनुष्य क
त है।

४. वेद मनुष्य रचित नहीं हैं इस मान्यताका कैसा अनूठा अनुमोदन है। पालडा
क एक अन्य जर्मनी विद्वान्ने उपनिषदोंका मूल-संस्कृतमें अध्ययनकर उपनिषद्-व
लासफी आफ ही उपनिषद्) नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तकका निर्माण कि
ोंने लिखा है कि उपनिषदोंके भीतर जो दार्शनिक मीमांसा है वह भारतमें अद्वि
है, सम्भवतः सम्पूर्ण विश्वमें अतुलनीय है।

५. डायसनने यह भी कहा कि कांट और शोपेनहरके विचारोंकी उपनिषदोंने
कल्पना कर ली थी तथा सनातन दार्शनिक सत्यकी अभिव्यञ्जना मुक्तिदायनी अ
के सिद्धान्तोंसे बढ़कर निश्चयात्मक एवं प्रभावपूर्ण रूपमें कदाचित् ही हुई
पनिषद्दर्शनम्)

६. 'मैक्डानेलने लिखा है—मानवीय चिन्तनाके इतिहासमें पहले पहल बृहदार
नेषद्में ही ब्रह्म अथवा पूर्णतत्त्वको ग्रहण कर उसकी यथार्थ व्यञ्जना हुई है।
७. फ्रांसीसी दार्शनिक विद्वान् विक्टरकाजन्स् लिखते हैं—जब हम पूर्वकी और

Almost Superhuman Conceptions whose originat
can hardly be said to be mere-men.
Philosophical conception unequalled in India or pe
aps anywhere else in the world.
Eternal philosophical truth has seldom found m
decisive and striking expression, than in the doct
of the emancipating knowledge of the Atma.
Brahman or absolute is grasped and definitely ex
ssed for the first time of the history of the Hur
thought in the BRHADARANYAKA UPANISAD
When we read the poetical and philosophicalmo
ments of the East, above all those of India, we di
ver there any truths so profound and which make s
a contrast with the result at which the European G
ius has some time stopped that we are constrained,

... भारतीय साहित्यिक एवं दार्शनिक महान् कृतियोंका

करते हैं, तब हमें ऐसे अनेक गम्भीर तथ्यों-सत्योंका पता चलता है, जिनकी उ तुलना करनेपर, जहाँ पहुँचकर यूरोपीय प्रतिभा कभी-कभी रुक गयी है, हमें ज्ञानके आगे घुटना टेक देना पड़ता है।'

८. जर्मनीके एक दूसरे लेखक और विद्वान् फ्रेडरिकश्लेगेल लिख आदर्शवादके प्रचुर प्रकाश पुञ्जकी तुलनामें यूरोपवासियोंका उच्चतम तत्त्व ही लगता है, जैसे मध्याह्न सूर्यके व्योमव्यापी प्रतापकी पूर्ण प्रखरतामें टि अनलशिखाकी कोई आदि किरण जिसकी अस्थिर और निस्तेज ज्योति ऐसी मानो अब बुझी की तब।

इस प्रकार उपर्युक्त पाश्चात्य विद्वानोंके विचारोंसे उपनिषदोंकी महत्त्व है। आशा है कि पाठकगण उपनिषद्की महिमा व गरिमाको अवश्य स उठायेंगे।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

स्वामी सत्यानन्

---

8. Even the loftiest philosophy of the Europeans in comparison with the abundant light of idealism like a feeble promethean spark in food of the heavenly glory of the moonday. Sur ing and feeble and ever ready to be extinguish

9. From every sentence deep, original and sublim ghts arise and the whole is pervaded by a h holy and earnest spirit in the whole world no study, except that of the originals, so ben and so elevating as that of the oupnekhat, it h the solace of my life, it will be solace of my de

10. In India our religion will now and never stri The primitive wisdom of the human race wi be pushed aside by the event of Galilee. On trary, Indian wisdom will flow back upon produce a thorough change in our knowi

विषय-सूची

विषय

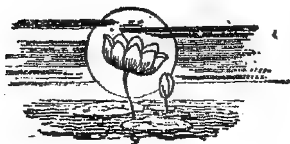


ॐ शं नो मित्रः । शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

उद्धारार्थं मुमुक्षोररचिषत पुरा ब्रह्मसूत्राणि यानि
कृष्णद्वैपायनेन श्रुतिपरमतिनाऽऽम्नायशीर्षार्थवक्त्रा
कृत्वा भाष्यं तदीयं निखिलबुधनुतं गूढतत्त्वोपदेष्टा
निर्द्वैतानन्ददायी जगति विजयते शङ्करो देशिकेन्द्रः
वक्तारमासाद्य यमेव नित्या सरस्वती स्वार्थसमन्विताऽऽसीत्
निरस्तदुस्तर्ककलङ्कपङ्का नमामि तं शङ्करमर्चिताङ्घ्रिम्

श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणालयम् ।
नमामि भगवत्पादं शङ्करं लोकशङ्करम् ॥



ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः

शाङ्करभाष्योपेता

कठोपनिषद्

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत—

मन्त्रार्थ, भाष्यानुवाद, सत्यानन्दीदीपिका सहित

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

ॐ पदवाच्य परमेश्वर हम (आचार्य और शिष्य) दोनोंकी साथ साथ रक्ष[ा करें ।] हम दोनोंका साथ साथ पालन करें । हम साथ साथ विद्या सम्बन्धी सामर्थ्य करें । हम दोनोंका अध्ययन तेजस्वी हो । हम दोनों परस्पर द्वेष न करें । आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक तापत्रय की शान्ति हो ।

ॐ नमो भगवते वैवस्वताय मृत्यवे ब्रह्मविद्याचार्याय नचिकेतसे च ।

ॐ ब्रह्मविद्याके आचार्य सूर्यपुत्र भगवान् यम और नचिकेताको नमस्कार है ।

अथ काठकोपनिषद्वल्लीनां सुखार्थप्रबोधनार्थमल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते

भाष्यानुवाद

धन्यं यच्छ्रुतिमौलिभव्यवचसां ज्ञानं शिवं सुन्दरं
संसारार्णवमग्नमूढजनताज्ञानान्धकारापहम् ।
तस्यैतां जननीं कठोपनिषदं सन्तो भजन्तां मुदा
सत्यानन्दसरस्वती रचितया भाषाविवृत्यान्वितम् ॥ १ ॥
भक्त्या प्रणम्य भगवत्पादानाचार्यतल्लजान् ।
सभाष्यस्य कठस्याहं व्याख्यां कुर्वे यथामति ॥ २ ॥

ानन्दीदीपिकया काठकोपनिद् युता । भवत्वज्ञानसंहन्त्री विश्वनाथानुकम्पया
ं शङ्कराचार्यं ब्रह्मविद्भिःसमादृतम् । जगद्गुरुं यतिवरं वन्दे शङ्कररूपिणम

अब कठोपनिषद्की वल्लियोंका जिज्ञासजनोंको सुखपूर्वक सुगमतासे ज्ञान सम्पाद

सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य स
दिति । उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवेद्य
विद्योच्यते । केन पुनरर्थयोगेन उपनिषच्छब्देन विद्योच्यत इत्युच

*ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णाः सन्त उपनिषच्छ
वक्ष्यमाणलक्षणां विद्यामुपसद्योपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन

करानेके लिए संक्षिप्त ग्रन्थवाली वृत्ति आरम्भ की जाती है । विशरण (नाश
अवसादन (शिथिलीकरण) इन तीन अर्थोंवाली तथा 'उप' 'नि' उपसर्ग
'क्विप्' प्रत्ययान्त 'सद्' धातुका 'उपनिषद्' यह रूप बनता है । जिस ग्रन्थकी
करना चाहते हैं उसके प्रतिपाद्य और वेद्य ब्रह्मरूप वस्तु विषयक विद्या
शब्दसे कही जाती है । पुनः किस अर्थके योग (सम्बन्ध) से उपनिषद् शब्दसे
कही जाती है अर्थात् किस अर्थके सम्बन्धसे उपनिषद् शब्दसे ब्रह्मविद्याका
जाता है । इसपर कहते हैं—

जो मुमुक्षु पुरुष लौकिक और पारलौकिक शब्दादि विषयोंसे विरक्त
शब्दवाच्य वक्ष्यमाण लक्षणवाली विद्याके समीप जाकर अर्थात् प्राप्तक

सत्यानन्दीदीपिका

यहाँ 'अथ' शब्द मङ्गलार्थक है, क्योंकि

'ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥

ऐसी स्मृति है । 'ग्रन्थसमाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्, इस स्मृतिवाक
श्रुतिके आधारपर मङ्गल करना चाहिए । इससे आचार्य शङ्करने आस्तिक बु
करनेके लिए और शिष्टाचार परिपालनार्थ 'ॐ नमो०' और 'अथ' शब्दसे
किया है ।

*सिद्धार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते । शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः स

मारते हैं आचार्य तो निर्दोष होते हैं । इस शङ्काके निवृत्त्यर्थ 'भगवते' पद व
'उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामागतिं गतिम् । वेत्ति विद्यामविद्यां च
भगवानिति ॥' इस स्मृतिवचनके आधारपर करामलकवत् ब्रह्मसाक्षात्कार
यावत् याम्यपदका अधिकार प्राप्त है तब तक प्रारब्ध कर्मका अतिवहन करते
ब्रह्मात्मत्वके बलसे भूतयातनादि दोषोंसे कदापि लिप्त नहीं होते । 'न
कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय' (गी० ४।४१) 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति

माविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद्धिंसनाद् विनाशनादित्यनेनार्थयोगे
ा उपनिषदित्युच्यते । तथा च वक्ष्यति—'निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते
ठ० १।३।१५) इति ।

ाय पूर्वक उसका परिशीलन करते हैं उनके अविद्या आदि संसार बीजका विशरण
न-विनाश करनेके कारण इस अर्थके योगसे विद्या उपनिषद् शब्दसे कही जाती है
आगे भी कहेगी—'उसे साक्षात् जानकर पुरुष मृत्युमुखसे मुक्त हो जाता है ।'

सत्यानन्दीदीपिका

महापुरुषोंकी इस उक्ति के अनुसार शास्त्रके आरम्भमें यदि विषय, प्रयोज
कारी और सम्बन्धका प्रतिपादन न किया जाय तो उसमें विज्ञपुरुषोंकी प्रवृत्ति न
', इसलिए शास्त्रके आरम्भमें उनका निरूपण करना आवश्यक है। ग्रन्थमें प्रवृत्ति
जक अनुबन्ध चतुष्टयको सूचित करनेके लिए 'उपनिषद्' शब्दसे कार्य सहित अवि
निवर्त्तिका ब्रह्मविद्याका ग्रहण किया गया है । ब्रह्मविद्या सकार्य अविद्याकी निवर्
तभी हो सकती है जब जगद्रूप कार्य सहित अविद्या मिथ्या हो 'नेह नानाऽसि
ान' 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि श्रुतिवचनोंसे बंध मिथ्
होता है। इससे दुःखद जगद्रूप कार्यके साथ अविद्याकी निवृत्ति और स्वरूपभू
निरतिशय आनन्दकी प्राप्तिरूप प्रयोजन भी सिद्ध होता है । इस प्रयोजनकी काम
ा अधिकारी कहा जाता है। वह 'ये मुमुक्षवः' से कहा गया है। इस पदसे ऐस
झना चाहिए कि विषयासक्त पुरुष इस फलका अधिकारी नहीं है ।

द्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते' (छा० ८।१।६)
(जैसे यहाँ कर्मोंसे उपार्जित अन्न आदि भोग्य पदार्थ क्षीण हो जाते हैं वैसे
ोक-पुण्यकर्मोंसे सम्पादित स्वर्गादि भोग भी नष्ट हो जाते हैं) 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलो
ाले क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गी० ९।२१) (वे उस विशाल स्वर्गलोकक
कर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं) 'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोष
नम्' (गी० १३।८) इसलिए विवेकी पुरुष इन विषयोंमें क्षयित्व आदि दोषोंक
ार अनुसन्धान कर इनसे विरक्त हो जाता है। इस प्रकार विवेक, वैराग्य आ
र सम्पन्न व्यक्ति इस विद्याका अधिकारी कहलाता है। जीवब्रह्मैक्य उपनिषद्क
ा है। प्राप्य-प्रापक-प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव आदि सम्बन्ध हैं। इस प्रकार अनुबन्
य सिद्ध होनेपर ग्रन्थका आरम्भ सर्वथा युक्त है ।

उप, नि उपसर्ग पूर्वक 'सद्' धातुसे कर्तृ अर्थमें 'क्विप्' प्रत्यय हो उपनिषद् शब
न हुआ है। यहाँ उपनिषद् शब्दका अर्थ ब्रह्मविद्या—ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान है। 'उपनि

[1]पूर्वोक्तविशेषणान्मुमुक्षून्वा परं ब्रह्म गमयतीति ब्रह्म योगाद्ब्रह्मविद्योपनिषद् । तथा च वक्ष्यति—"ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽ (कठ० उ० २।३।१८) इति । लोकादिर्ब्रह्मजज्ञो योऽग्निस्तद्विषया द्वितीयेन वरेण प्रार्थ्यमानायाः स्वर्गलोकफलप्राप्तिहेतुत्वेन गर्भवा द्युपद्रववृन्दस्य लोकान्तरे पौनःपुन्येन प्रवृत्तस्यावसादयितृत्वेन पादनेन धात्वर्थयोगादग्निविद्याप्युपनिषदित्युच्यते । तथा च

अथवा [शान्त दान्त] आदि पूर्वोक्त विशेषणोंसे युक्त मुमुक्षुओंक परब्रह्मके पास पहुँचा देती है अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार करा देती है इस प्रका त्कार करानेवाली होनेके कारण इस अर्थके योगसे ब्रह्मविद्या 'उपनिषद्' 'ब्रह्मप्राप्तो०' (ब्रह्मको प्राप्त हुआ अज्ञानरूपी रज रहित हो अमर हो गया कहेगी । जो अग्नि भूः, भुवः आदि लोकोंसे पूर्व सिद्ध ब्रह्मसे उत्पन्न तद्विषयक विद्या जो दूसरे वरसे माँगी गई है और स्वर्गलोक रूप फलकी प्र रूपसे लोकान्तरोंमें पुनः-पुनः प्राप्त होनेवाले गर्भवास, जन्म, वृद्धावस्था समूहका अवसादन-शैथिल्यापादनके द्वारा वह अग्निविद्या भी 'सद्' धातु उपनिषद् कही जाती है । 'स्वर्गलोकको प्राप्त होनेवाले पुरुष-यजमान

सत्यानन्दीदीपिका

षदं भो ब्रूहि' इस प्रकार ब्रह्मविद्यामें ही उपनिषद् शब्दका प्रयोग पाय 'एकार्थत्वसंभवेऽनेकार्थकल्पना अन्याय्या' ऐसा न्याय भी है । उपनिषद् भी ब्रह्मविद्यामें संभव है । यथा—उपनिषद् शब्दमें चार अवयव हैं 'उप. क्विप्' अन्तिम तो लुप्त है । शेष उप-सामीप्य, नि—निश्चय, सद् धातुका गति और अवसादन है और क्विप् प्रत्यय कर्तृ अर्थमें है । 'अतः शुद्धं ज सामीप्योपलक्षितं ब्रह्म निश्चितं नीत्वा सत्स्वरूपं ग्राहयित्वा सकार्यां सम् शिथिलयति नाशयति या सा उपनिषद्' इस प्रकारकी व्युत्पत्तिसे शुद्ध जीव पलक्षित ब्रह्मके पास ले जाकर ब्रह्मरूपका बोध कराकर कार्य सहित समूल शिथिल कर नाश करती है वह उपनिषद्[1] है ।

[1]ब्रह्मविद्यासे जगद्रूप कार्य सहित अविद्या निवृत्तिरूप यह प्रयोजनांश सकता है जब कार्य सहित अविद्या मिथ्या (कल्पित) हो, कल्पितकी ज्ञानसे निवृत्ति होती है अकल्पित की नहीं । जैसे रज्जुज्ञानसे रज्जुमें अध्य निवृत्ति (बाध) हो जाती है ।

'स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते' (कठ० उ० १।१।१३) इत्यादि । ननु चोपनिषच्छब्देनाध्येतारो ग्रन्थमप्यभिलपन्ति । उपनिषदमधीमहेऽध्यापयाम इति च । एवं नैष दोषोऽविद्यादिसंसारहेतुविशरणादेः सदिधात्वर्थस्य ग्रन्थमात्रेऽसम्भवाद्विद्यायां च सम्भवात् । ग्रन्थस्यापि तादर्थ्येन तच्छब्दत्वोपपत्तेः, 'आयुर्वै घृतम्' इत्यादिवत् । तस्माद्विद्यायां मुख्यया वृत्त्योपनिषच्छब्दो वर्तते ग्रन्थे तु भक्त्येति ।

एवमुपनिषन्निर्वचनेनैव विशिष्टोऽधिकारी विद्यायामुक्तः । विषयश्च विशिष्ट उक्तो विद्यायाः परं ब्रह्म प्रत्यगात्मभूतम् । प्रयोजनं चास्या उपनिषद आत्यन्तिकी संसारनिवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिलक्षणा सम्बन्धश्चैवंभूतप्रयोजनेनोक्तः । अतो यथोक्ताधिकारिविषयप्रयोजनसम्बन्धाया विद्यायाः करतलन्यस्तामल-

---

प्राप्त करते हैं, ऐसा आगे कहेंगे । परन्तु 'उपनिषद् पढ़ते हैं अथवा पढ़ाते हैं' इस प्रकार अध्ययन करनेवाले ग्रन्थको भी उपनिषद् शब्दसे कहते हैं ? यह दोष नहीं है, यद्यपि संसारके हेतुभूत अविद्यादिके विशरण-नाश आदि जो 'सद्' धातुके अर्थ हैं वे ग्रन्थमात्र में तो संभव नहीं हैं किन्तु विद्यामें संभव हैं, फिर भी घी जैसे आयुवृद्धिमें उपयोगी होने के कारण 'घी आयु है' ऐसा कहा जाता है वैसे ही ग्रन्थ भी विद्याके लिए है, अतः वह भी उपनिषद् शब्दसे कहा जा सकता है । इसलिए 'उपनिषद्' शब्द ब्रह्मविद्यामें तो मुख्यवृत्तिसे प्रयुक्त होता है किन्तु ग्रन्थमें गौणवृत्तिसे ।

इस प्रकार 'उपनिषद्' शब्दका निर्वचन करनेसे ही विद्याका विशिष्ट अधिकारी भी कहा गया है, 'त्वं' पद लक्षित प्रत्यगात्मभूत परब्रह्म विद्याका असाधारण विषय कहा गया है । इस प्रकार इस विद्याका संसारकी आत्यन्तिक निवृत्ति एवं नित्य निरतिशय आनन्दस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्तिरूप प्रयोजन है । इस प्रकारके प्रयोजनके

सत्यानन्दीदीपिका

[1]ऐक्यज्ञानं यदोत्पन्नं महावाक्येन चात्मनोः । तदा अविद्या स्वकार्येण नश्यत्येव न संशयः ॥

'जब तत्वमसि आदि महावाक्योंसे प्रत्यगभिन्न ब्रह्मका एकत्व ज्ञान हो जाता है, तभी कार्य सहित अविद्या निवृत्त हो जाती है इसमें संशय नहीं है' । 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' 'मायाऽविद्यात्मकोपाधिभेदेनैव न वस्तुतः' 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' 'नाऽन्योऽतोऽस्ति द्रष्टा'

[3]नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका । अनिर्वाच्या ततो ज्ञेया भेदबुद्धिप्रदायिनी॥

[4]मायिनो मायया भेदं पश्यन्ति परमात्मनि । तस्मान्मायां त्यजेद्योगान्मुमुक्षुर्द्विजोत्तम ॥

नश्वरं भासते चैतद्विश्वं मायोद्भवं नृप । यथा शुक्तौ रौप्याभासः काचभूम्यां जलस्य च ॥

एकः सन् भिद्यते शक्त्या मायया न स्वभावतः । तस्माददद्वैतमेवाहुः मुनयः परमार्थतः ॥

कवत्प्रकाशकत्वेन विशिष्टाधिकारिविषयप्रयोजनसम्बन्धा ए
भवन्तीति, अतस्ता यथाप्रतिभानं व्याचक्ष्महे—

कथनसे प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव, प्राप्य-प्रापकभाव आदि सम्बन्ध भी
यथोक्त अधिकारी, विषय, प्रयोजन और सम्बन्ध विशिष्ट विद्याको करा
शित करनेवाली होनेसे ये कठोपनिषद्की वल्लियाँ[1] विशिष्ट अधिकारी विष
सम्बन्धवाली हैं, सो हम उनकी यथामति व्याख्या करते हैं—

सत्यानन्दीदीपिका

"अतो द्वैतं समध्यस्तमद्वितीये परात्मनि। अद्वैतं परमानन्दं ब्रह्मवस्तु
अध्यस्तं सर्पवद्यत्र विश्वमेतत्प्रकाशते। विश्वस्मिन्नपि चान्वेति निर्विका
सर्वं ब्रह्मैव नानात्वं नास्तीति निगमा जगुः। यदज्ञानाज्जगद्भाति यस्मिञ्

इत्यादि श्रुति, स्मृतिसे यह सिद्ध होता है कि माया और तत्कार्य
विलक्षण अनिर्वचनीय-मिथ्या है, अतः उसकी निवृत्ति ब्रह्मविद्यासे ही
माया तत्कार्य जगत्को सत् आदि माननेवालोंके मत खण्डित समझ
प्रकार प्रयोजन सिद्ध होनेपर अधिकारी आदि भी सिद्ध हो जाते हैं।



---

१. कल्पलताके समान अभीष्ट फलप्रद होनेसे कठोपनिषद्के भागोंको
जाता है।

प्रथमाध्यायस्य

प्रथमावल्ली

ॐ उशन्ह् वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥ १ ॥

वाजश्रवसः (वाजमन्नंतद्दानादिनिमित्तं श्रवः यशः यस्य सः, वाजश्रवाः तस्या
ाजश्रवसः) स उशन् हवै (ह वै ऐतिह्यस्मारकौ निपातौ, स्वर्गलोकमिच्छन्) सर्व
सर्वस्वं) ददौ (ब्राह्मणेभ्यो दत्तवान्) तस्य ह (प्रसिद्धस्य वाजश्रवसस्य) नचि
ाम (नचिकेतो नामा) पुत्र आस (आसीत्) ॥१॥

प्रसिद्धि है कि यज्ञफलके इच्छुक वाजश्रवाके पुत्रने [विश्वजित् यज्ञमें]
ारा धन दे दिया । उसका नचिकेता नामक एक प्रसिद्ध पुत्र था ॥१॥

तत्राख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । उशन्कामयमानः, ह वा इति वृत्तार्थ
ाार्थौ निपातौ । वाजमन्नं तद्दानादिनिमित्तं श्रवो यशो यस्य स वाज
रूढ़ितो वा । तस्यापत्यं वाजश्रवसः किल विश्वजिता सर्वमेधेनेजे त
ामयमानः । स तस्मिन्क्रतौ सर्ववेदसं सर्वस्वं धनं ददौ दत्तवान् ।
ाजमानस्य ह नचिकेता नाम पुत्रः किलास बभूव ॥ १ ॥

यहाँ यह आख्यायिका विद्याकी स्तुतिके लिए है । उशन् स्वर्गफलकी कामनाव
ह' और 'वै' ये निपात अतीत वृत्तान्तका स्मरण करानेके लिए हैं । वाज
द्दानादिनिमित्तक जिसका श्रव-यश हो वह वाजश्रवा है अथवा रूढ़िसे भी
ाजश्रवा नामवाला हो सकता है । उस वाजश्रवाके पुत्र वाजश्रवस उद्दालकने
ामनासे जिसमें सर्वस्व दिया जाता है ऐसा विश्वजित् नामक यागसे यजन कि
उस यज्ञमें उसने सर्ववेदस् अर्थात् अपना सारा धन दे दिया । उस यजमानका नचि
ामक प्रसिद्ध पुत्र था ॥१॥

सत्यानन्दी-दीपिका

वेद तथा वेदसम्मत शास्त्रोंमें तीन प्रकारकी वर्णन शैली पाई जाती है, वह स
लौकिकी और परकीया भाषा कहलाती है । समाधि गम्य आध्यात्मिक रहस्य प्र
भाषा समाधि भाषा है । समाधि गम्य आध्यात्मिक रहस्य को लौकिकरीतिसे प्र
करनेवाली भाषा लौकिकी भाषा है और जो भाषा समाधिगम्य आध्यात्मिक र
गाथाद्वारा हृदयंगम कराती है वह तीसरी अर्थात् परकीया भाषा कहलाती है,

त॰ ह कुमार॰ सन्त दाक्षणासु
नीयमानासु श्रद्धाविवेश सोऽमन्यत:।। २ ।।

दक्षिणासु नीयमानासु (पित्रा जीर्णासु गोषु ब्राह्मणेभ्यो दक्षिणार्थं दी तं कुमारं सन्तं (बाल्ये वयसि स्थितं नचिकेतसं) श्रद्धा (आस्तिक्यबुद्धि: (प्रविवेश) सः (नचिकेताः) अमन्यत (मनसि अशोचत्) ।।२।।

ऋत्विजोंके लिए दक्षिणास्वरूप गौओंको ले जाते देख उस कुमार नचिके श्रद्धाका उदय हुआ वह मन ही मन सोचने लगा ।।२।।

तं ह नचिकेतसं कुमारं प्रथमवयसं सन्तमप्राप्तजननशक्तिं बाल स्तिक्यबुद्धिः पितुर्हितकामप्रयुक्ताविवेश प्रविष्टवती। कस्मिन्काल ऋत्विग्भ्यः सदस्येभ्यश्च दक्षिणासु नीयमानासु विभागेनोपनीयमान णार्थासु गोषु स आविष्टश्रद्धो नचिकेता अमन्यत ।। २ ।।

कथमित्युच्यते—

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत् ।

सन्तानोत्पादन शक्तिकी प्राप्तिसे रहित प्रथमावस्थापन्न उस कुमार बालक पिताकी हितकामनासे प्रयुक्त श्रद्धा-आस्तिक्य बुद्धि प्रविष्ट अर्थात् उत्पन्न समय ? कहते हैं—जिस समय ऋत्विक् और सदस्य गणोंके लिए दक्षिणा रही थीं अर्थात् दक्षिणाके लिए विभागकर गौएँ लायी जा रही थीं, उस स युक्त हो नचिकेताने मनमें विचार किया ।।२।।

किस प्रकार विचार किया ? सो 'पीतोदका' आदिसे कहते हैं—

सत्यानन्दीदीपिका

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशित

'यज्ञो वै विष्णुः, 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' (गीता० ४। इस प्रकार अनेक यज्ञोंका विधान है। परन्तु स्वर्गफलकामी उद्दालकने यजेत' इस विधिवाक्यके अनुसार 'विश्वजित्' नामक याग किया जिसमें देनेका विधान है ।।१।।

होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा ये चार यज्ञके मुख्य ऋत्विज हैं, ४८-४८ गौएं दक्षिणामें देनेका विधान है। प्रशास्ता, प्रतिप्रस्थाता, ब्राह्मण प्रस्तोता इनमेंसे प्रत्येकको २४-२४। अच्छावाक्, नेष्टा, अग्नीधर और प्रत्येकको १६-१६ और ग्रावस्तत नेता पोता ...

पीतोदका: (पीतमुदकं याभि:, ता:) जग्धतृणा: (जग्धं तृणं या:) दुग्धदोहा: (दुग्धमेव दोहो (क्षीरं) यासां ता:) निरिन्द्रिया: (इन्द्रियशक्तिशू द्रा:) ता: (उक्तरूपा गा:) ददत् (प्रयच्छन्) स: (पुरुष:) ते लोका:, अन सुखरहिता:) तान् (लोकान्) गच्छति ॥३॥

जिन्होंने जल पी लिया है, जिन्होंने तृण-घास-खा लिया है, जिनका ह् लिया गया है और जिनमें प्रजननसामर्थ्य नहीं रही ऐसी जीर्णशीर्ण गौओंका न करता है वह दाता जो आनन्द शून्य लोक हैं उन्हींको जाता है ॥३॥

दक्षिणार्था गावो विशेष्यन्ते पीतमुदकं याभिस्ता: पीतोदका:, ज क्षितं तृणं याभिस्ता जग्धतृणा:, दुग्धो दोह: क्षीराख्यो यासां ता दुग्धदो ारिन्द्रिया अप्रजननसमर्था जीर्णा निष्फला गाव इत्यर्थ:। यास्ता एवं ा ऋत्विग्भ्यो दक्षिणाबुद्ध्या ददत्प्रयच्छन्ननन्दा अनानन्दा असुखा नामे द्य ते लोकास्तान्स यजमानो गच्छति ॥ ३ ॥

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति ।
द्वितीयं तृतीयं तꣳ होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥ ४ ॥

स: (नचिकेता:) ह (ऐतिह्यद्योतकमव्ययम्) पितरम् [उपगम्य] उवाच, हे तात !) कस्मै (ऋत्विजे) मां दास्यसि इति द्वितीयवारं तृतीयवारम् वाच अनन्तरं पिता क्रुद्ध: सन् तं (पुत्रं ह-किल) उवाच, त्वा (त्वां) मृ यमाय) ददामीति ॥४॥

तब वह अपने पितासे बोला—हे तात ! आप मुझे किस ऋत्विक्‌को दान करें सी प्रकार उसने द्वितीयवार, तृतीयवार भी कहा। तब पिताने क्रुद्ध हो उससे 'मैं त्यु-यम को देता हूँ' ऐसा कहा ॥४॥

तदेवं क्रत्वसम्पत्तिनिमित्तं पितुरनिष्टं फलं मया पुत्रेण सता निवारण

दक्षिणाके लिए लायी हुई गौओंको विशेषित करते हैं अर्थात् ऋत्विक् आ क्षिणारूपसे दी जानेवाली गौएं कैसी थीं यह बतलाते हैं—जिन्होंने जल पी ि वे 'पीतोदका' कहलाती हैं। जिन्होंने तृण-घास जग्ध-भक्षित अर्थात् खा लिय र्थात् जिनमें और घास खानेकी शक्ति नहीं रही है वे 'जग्धतृणा' हैं। जिनका ह लिया जा चुका है अर्थात् जो और दूध देनेमें समर्थ नहीं हैं वे 'दुग्धदोह था निरिन्द्रिया जो सन्तान उत्पन्न करनेमें असमर्थ जीर्ण निष्फल-मरण ाएँ हैं ऐसा अर्थ है। इस प्रकारकी उन गौओंको ऋत्विजोंके लिए दक्षिणाबु ो देता है वह यजमान अनन्दा-सुखशून्य जो लोक हैं उन्हींको प्राप्त होता है ॥

मात्मप्रदानेनापि क्रतुसम्पत्तिं कृत्वेत्येवं मत्वा पितरमुपगम्य स होवाच पितरं हे तत तात कस्मै ऋत्विग्विशेषाय दक्षिणार्थं मां दास्यसि प्रयच्छसीत्येतत्। एवमुक्तेन पित्रोपेक्ष्यमाणोऽपि द्वितीयं तृतीयमप्युवाच कस्मै मां दास्यसि कस्मै मां दास्यसीति। नायं कुमारस्वभाव इति क्रुद्धः सन्पिता तं ह पुत्रं किलोवाच मृत्यवे वैवस्वताय त्वा त्वां ददामीति ॥ ४ ॥

स एवमुक्तः पुत्र एकान्ते परिदेवयाञ्चकार। कथम्? इत्युच्यते—

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।
किँस्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥ ५ ॥

बहूनां (शिष्यपुत्रदीनां मध्ये) प्रथमः (मुख्यः) एमि (भवामि) बहूनां मध्यमः एमि, यमस्य किंस्वित् कर्तव्यं (तत् प्रयोजनम् आसीत्) यत् (प्रयोजनम्) अद्य मया करिष्यति (सम्पादयिष्यति) ॥५॥

मैं बहुतसे शिष्यों वा पुत्रोंमें तो मुख्य वृत्तिसे प्रथमताको प्राप्त हूँ और बहुतोंमें मध्यमवृत्तिसे मध्यम हूँ। यमका ऐसा क्या कार्य-प्रयोजन है जिसे पिता आज मेरे द्वारा सिद्ध करेंगे ॥५॥

होनेवाला अनिष्टफल मुझ जैसे सत्पुत्रको आत्म-बलिदानकर भी निवृत्त करना चाहिए, ऐसा विचार कर नचिकेता पिताके समीप जाकर बोला—हे तात! मुझे दक्षिणारूपसे किस ऋत्विग्विशेषको देंगे। नचिकेताके ऐसा कहनेपर पिता द्वारा उपेक्ष्यमाण होकर भी उसने पुनः द्वितीयवार फिर तृतीयवार पूछा मुझे किसको देंगे, मुझे किसको देंगे? तब पिता यह सोचकर कि यह बालकोंकेसे स्वभाववाला नहीं है, तब क्रुद्ध हो पिताने उस पुत्रसे कहा—मैं तुझे सूर्यपुत्र मृत्यु-यमको देता हूँ ॥४॥

पिताद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर वह पुत्र एकान्तमें बैठकर अनुताप करने लगा। किस प्रकार? कहते हैं—

सत्यानन्दीदीपिका

ऋषि होकर भी उद्दालकने पुत्र मोहसे मोहित हो अच्छी-स्वस्थ गौएँ पुत्रके लिए और मरणासन्न गौएँ ऋत्विजोंको दक्षिणामें देनी चाहीं, यही यज्ञमें वैगुण्य था। जिससे उत्पन्न अनिष्टसे रक्षा करनेके लिए नचिकेताने पिताको सचेत किया। क्योंकि 'पुंनाम्नो नरकात्त्रायत इति पुत्रः' यही सत्पुत्रका लक्षण है। परन्तु पुत्रमोहवश विकृत बुद्धि हो जानेके कारण उद्दालकने धार्मिक पुत्रके बाल सुलभ, पितृभक्ति पूर्ण धर्म भावसिक्त वचनोंका मर्म न समझ प्रत्युत क्रुद्ध हो 'मृत्यवे त्वा ददामि' ऐसा कहा। क्रोधसे क्या अनर्थ होता है, गीता २।६३ में इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥४॥

बहूनां शिष्याणां पुत्राणां वैमि गच्छामि प्रथमः सन्मुख्यया शिस्यादिवृत्त्येत्यर्थः । मध्यमानां च बहूनां मध्यमो मध्यमयैव वृत्त्यैमि । नाधमया कदाचिदपि । तमेवं विशिष्टगुणमपि पुत्रं मां मृत्यवे त्वा ददामीत्युक्तवान्पिता । स किंस्विद्यमस्य कर्तव्यं प्रयोजनं मया प्रत्तेन करिष्यति यत्कर्तव्यमद्य ? नूनं प्रयोजनमनपेक्ष्यैव क्रोधवशादुक्तवान्पिता । तथापि तत्पितुर्वचो मृषा मा भूदित्येवं मत्वा परिदेवनापूर्वकमाह पितरं शोकाविष्टं किं मयोक्तमिति ॥ ५ ॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे ।
सस्यमिव मर्त्यःपच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥ ६ ॥

पूर्वे (पूर्ववर्त्तिनः) तथा, अनुपश्य (पूर्वक्रमेण आलोचय) तथा अपरे (वर्तमानाः साधवः) प्रतिपश्य (विचारय) मर्त्यः (मनुष्यः) सस्यमिव पच्यते (म्रियते) सस्यमिव पुनः आजायते (उत्पद्यते) ॥ ६ ॥

जिस प्रकार पूर्व पुरुष व्यवहार करते थे उसका विचार कीजिए तथा वर्तमान कालिक अन्यलोग प्रवृत्त होते हैं उसे भी देखिये । मरणधर्मा मनुष्य खेतीकी भाँति पकता (वृद्ध हो मर जाता) है और खेतीकी तरह पुनः उत्पन्न हो जाता है ॥ ६ ॥

मैं बहुतसे शिष्यों अथवा पुत्रोंमें मुख्य शिष्यादि वृत्तिसे प्रथम होता आया हूँ ऐसा अर्थ है । बहुतसे मध्यमोंमें मध्यमवृत्तिद्वारा मध्यम स्थान प्राप्त करता आया हूँ, किन्तु अधम वृत्तिद्वारा अधम कभी नहीं हुआ हूँ । ऐसे विशिष्ट गुण सम्पन्न उस मुझ पुत्रको भी पिताने 'तुझे यमको देता हूँ' ऐसा कहा । परन्तु यमका ऐसा कौन-सा कर्तव्य-प्रयोजन इन्हें पूर्ण करना है जिसे ये इस प्रकार दिये हुए मुझसे आज सम्पन्न करेंगे ? निश्चय किसी प्रयोजनकी अपेक्षा न कर ही पिताने क्रोधवश ऐसा कहा है, तथापि पिताका 'मृत्यवे त्वा ददामि' वह वचन मिथ्या न हो ऐसा विचारकर उसने अपने पितासे जो यह सोचकर कि 'मैंने क्या कह दिया' ? शोकातुर थे खेद पूर्वक कहा ॥५॥

सत्यानन्दीदीपिका

नचिकेता अन्य शिष्योंके साथ पितासे ही विद्याध्ययन भी करते थे इससे नचिकेता अपने पिताके शिष्य भी थे । यथा समय गुरुका इष्ट समझकर उसमें प्रवृत्त होना यह मुख्यवृत्ति है और आज्ञाद्वारा प्रवृत्त होना मध्यमवृत्ति है । इन दोनोंमें पूर्ण होनेसे नचिकेता उत्तम एवं मध्यम श्रेणीके पुत्र व शिष्य थे । गुरु व पिताकी आज्ञाका पालन न करना अधमवृत्ति है इससे नचिकेता सर्वथा मुक्त थे । उत्तम गुण सम्पन्न होते भी नचिकेता अपने पिताकी आज्ञा पालन करना अपना मुख्य कर्तव्य समझते थे । दूसरी ओर पिताने जब यह कहा—'मृत्यवे त्वा ददामि' इसके अनन्तर उसे अनुताप हुआ

अनुपश्यालोचय निभालयानुक्रमेण यथा येन प्रकारेण वृत्ताः पूर्वेऽतिक्रान्ताः पितृपितामहादयस्तव। तान्दृष्ट्वा च तेषां वृत्तमास्थातुमर्हसि। वर्तमानाश्चापरे साधवो यथा वर्तन्ते तांश्च प्रतिपश्यालोचय तथा न च तेषु मृषाकरणं वृत्तं वर्तमानं वास्ति। तद्विपरीतमसतां च वृत्तं मृषाकरणम्। न च मृषा कृत्वा कश्चिदजरामरो भवति। यतः सस्यमिव मर्त्यो मनुष्यः पच्यते जीर्णो म्रियते। मृत्वा च सस्यमिव आजायत आविर्भवति पुनरेवमनित्ये जीवलोके किं मृषाकरणेन। पालय आत्मनः सत्यम्। प्रेषय मां यमायत्यभिप्रायः॥ ६॥

आपके पिता, पितामह आदि अनुक्रमसे अतिक्रान्त-पूर्व पुरुषोंने जिस प्रकारके वृत्तका अवलम्बन किया था उसकी आलोचना कीजिए उसपर विचार कीजिए अर्थात् उसपर दृष्टि डालिये। उन्हें देख आपको भी उनके वृत्त-आचरणका अवलम्बन करना उचित है और वर्तमान अन्य साधु पुरुष जैसा आचरण करते हैं उनका भी आलोचन-विचार कीजिए। उन लोगोंमें किसी प्रकारका भी मिथ्याकरण नहीं था और न वर्तमानमें ही है। किन्तु इसके विपरीत असत्पुरुषोंका आचरण-व्यवहार ही मिथ्याकरण-असत्यकरण है। परन्तु असत्य आचरण कर कोई भी अजर अमर नहीं हो सकता, क्योंकि मर्त्य-मनुष्य खेतीके समान पकता अर्थात् जीर्ण हो कर मर जाता है तथा मरकर खेतीकी भाँति पुनः उत्पन्न-आविर्भूत हो जाता है। इस प्रकार इस अनित्य जीवलोकमें मृषा आचरणसे लाभ ही क्या है? अतः अपने सत्यका पालन कीजिए मुझे यमके यहाँ भेज दीजिए, यह अभिप्राय है॥ ६॥

सत्यानन्दीदीपिका

कि मैंने सर्वगुण सम्पन्न अपने पुत्रको यमके प्रति जानेको कैसे कह दिया। इस प्रकार शोकाकुल पिताके पास जाकर खेद पूर्वक नचिकेताने कहा॥ ५॥

धर्मनिष्ठ नचिकेता शोकाकुल पिताको 'मृत्यवे त्वा ददामि' इस वचनसे विचलित न होनेकी प्रार्थना करते हैं—'सत्यं वद धर्मं चर' 'सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्'।

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्। अश्वमेधसहस्रात्तु सत्यमेव विशिष्यते॥

इत्यादि श्रुति स्मृति भी हैं। इसलिए भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालोंमें भी महान् पुरुष सत्यसे विचलित नहीं होते। यदि किसी दोषवश मिथ्याभाषण करेंगे तो उससे किञ्चिदपि लाभ नहीं प्रत्युत अनिष्टकी ही प्राप्ति होती है। इसलिए आप दुःखी व शोकातुर न हो अपने मुखसे निकाले 'मृत्यवे त्वा ददामि' इस वचनको सत्य करें, धर्म और सत्यपालनसे ही ऋषित्व प्राप्त होता है, अतः मुझे यमके प्रति भेज सत्यका पालन कीजिए॥ ६॥

स एवमुक्तः पितात्मनः सत्यतायै प्रेषयामास। स च यमभवनं गत्वा तिस्रो रात्रीरुवास यमे प्रोषिते। प्रोष्यागतं यमममात्या भार्या वा ऊचुर्बोधयन्तः—

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैताँ शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम्॥ ७॥

ब्राह्मणः अतिथिः (सन्) वैश्वानरः (अग्निरिव दहन् इव) गृहान् प्रविशति। तस्य (अग्निरिव प्रविष्टस्य अतिथेः) एतां (शास्त्रोक्तां पाद्यासनादिरूपां) शान्तिं कुर्वन्ति। हे वैवस्वत ! (सूर्यपुत्र !) उदकं (पाद्यार्थं जलं) हर (आहर एनं पूजय)॥७॥

ब्राह्मण अतिथि होकर अग्नि ही घरमें प्रवेश करता है। साधु पुरुष उस अतिथिकी यह (अर्घ्यपाद्यदानरूपा) शान्ति किया करते हैं, अतः हे सूर्यपुत्र ! [इस ब्राह्मण अतिथिकी शान्तिके लिए] जल ले जाइये॥ ७॥

वैश्वानरोऽग्निरेव साक्षात्प्रविशत्यतिथिः सन्ब्राह्मणो गृहान्दहन्निव तस्य दाहं शमयन्त इवाग्नेरेतां पाद्यासनादिदानलक्षणां शान्तिं कुर्वन्ति सन्तोऽतिथेर्यतोऽतो हराहर हे वैवस्वत उदकं नचिकेतसे पाद्यार्थम्। यतश्चाकरणे प्रत्यवायः श्रूयते॥ ७॥

आशाप्रतीक्षे संगतँसूनृतां च इष्टापूर्ते पुत्रपशूँश्च सर्वान्।
एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे॥८॥

ब्राह्मणः अनश्नन् (अभुञ्जानःसन्) यस्य गृहे वसति [तस्य] अल्पमेधसः (अल्पबुद्धेः) पुरुषस्य आशाप्रतीक्षे (आशा च प्रतीक्षा च ते) सङ्गतं (तत्संयोगजं फलं) सुनृतां (प्रियवाचं) इष्टापूर्ते (इष्टं च पूर्तं च ते) [इष्टं यागजं फलं, पूर्तं तड़ागोद्यानादिकर्मजन्यफलं सर्वान् पुत्रपशून् च (पुत्रान् पशूंश्च) एतत् (सर्वं) वृङ्क्ते (नाशयति)॥ ८॥

पुत्रद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर पिताने अपनी सत्यताके रक्षार्थ उसे यमराजके पास भेज दिया। यमराजके बाहर (ब्रह्मलोक) जानेके कारण उसने यमराजके भवनमें पहुँचकर तीन रात निवास किया। प्रवाससे लौटे यमराजको उनकी पत्नी अथवा मन्त्रियोंने समझाते हुए कहा—

ब्राह्मण अतिथि होकर साक्षात् वैश्वानर अग्नि ही दग्ध करता हुआ-सा घरोंमें प्रवेश करता है। उस अग्निके दाहको मानो शान्त करते हुए ही साधु-गृहस्थजन अतिथि की पाद्य आसन आदि दानरूप शान्ति किया करते हैं। अत: हे सूर्यपुत्र ! नचिकेताके पाद्य-पाद प्रक्षालनार्थ जल ले जाइये, क्योंकि ऐसा न करनेसे प्रत्यवाय सुना जाता है।७।

जिसके घरमें निराहार हो ब्राह्मण अतिथि वास करता है उस अल्पबुद्धि पुरुषकी ज्ञात और अज्ञात प्राप्य वस्तुओंकी प्राप्तिकी प्रार्थनाएँ, उनके संयोगसे उत्पन्न फल, प्रिय वाणी प्रयुक्त फल, यागादि इष्ट एवं तालाब आदि पूर्त कर्म जन्य फल, पुत्र, पशु आदि सबको वह नष्ट कर देता है ।। ८ ।।

आशाप्रतीक्षेऽनिर्ज्ञातप्राप्येष्टार्थप्रार्थना आशा निर्ज्ञातप्राप्यार्थप्रतीक्षणं प्रतीक्षा ते आशाप्रतीक्षे, संगतं तत्संयोगजं फलम्, सूनृतां च सूनृता हि प्रिया वाक्तन्निमित्तं च, इष्टापूर्ते इष्टं यागजं पूर्तमारामादिक्रियाजं फलम्, पुत्रपशूंश्च सर्वानेतत्सर्वं यथोक्तं वृङ्क्त आवर्जयति विनाशयतीत्येतत्पुरुषस्याल्पमेधसोऽल्पप्रज्ञस्य यस्यानश्नन्नभुञ्जानो ब्राह्मणो गृहे वसति। तस्मादनुपेक्षणीयः सर्वावस्थास्वप्यतिथिरित्यर्थः ।। ८ ।।

एवमुक्तो मृत्युरुवाच नचिकेतसमुपगम्य पूजापुरःसरम्—

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे अनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व ।।९।।

जिसके घरमें निराहार हो ब्राह्मण अतिथि वास करता है उस अल्पबुद्धि पुरुषके 'आशा-प्रतीक्षा' आशा-अज्ञात प्राप्तव्य इष्ट पदार्थोंकी प्रार्थना तथा ज्ञात प्राप्य पदार्थोंका प्रतीक्षण-प्रतीक्षा एवं उनके संयोगसे उत्पन्न फल, प्रियवाणी और तन्निमित्तक फल, 'इष्टापूर्त'—इष्ट-यागजन्यफल, पूर्त-उद्यानादि कर्मजन्य फल, समग्र पुत्र, तथा पशु पूर्वोक्त इन सबको वह नष्ट कर देता है। अतः तात्पर्य यह है कि अतिथि सभी अवस्थाओंमें अनुपेक्षणीय है ।। ८ ।।

मन्त्री आदि द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर यमराजने पूजा पुरःसर नचिकेताके समीप जाकर कहा—

सत्यानन्दीदीपिका

'इष्टं मे भूयात्' इस प्रकार अज्ञात अननुभूत इष्ट पदार्थकी प्रार्थना आशा है।

अग्निहोत्रं तपस्सत्यं वेदानां चानुपालनम् । आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ।।
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च । अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ।।

अग्निहोत्र, तप, सत्य, वेदोंका संरक्षण, अतिथि सत्कार और वैश्वदेव 'इष्ट' कहलाता है। बावड़ी, कुआँ, तालाब, देवालय, बाग लगवाना तथा अन्नदान करना 'पूर्त' कहलाता है। इत्यादि कर्मजन्य फल उस अल्पमति पुरुषका नष्ट हो जाता है जिसके घरमें ब्राह्मण अतिथि निराहार हो वास करता है, अतः अतिथि कदापि उपेक्षणीय नहीं है। इस मन्त्रमें पाँच यज्ञोंमेंसे अतिथि पूजनरूप नृयज्ञकी महिमा बतलाई गई है ।। ८ ।।

का टी[illegible]

हे ब्रह्मन् ! [त्वं] अतिथिः, नमस्यः (पूजार्हः) सन्नपि यत् मे गृहे तिस्रः रात्रीः (दिनत्रयम्) अनश्नन् (अभुञ्जानः) अवात्सीः (वासमकार्षीः) तस्मात् हे ब्रह्मन् ! ते (तुभ्यं) नमः अस्तु । मे (मह्यं) स्वस्ति (मङ्गलम्) अस्तु, प्रति (तिस्रः रात्रीः प्रति) त्रीन् वरान् वृणीष्व (एकैकां रात्रिं प्रति एकैकं वरं यथाभिलाषं प्रार्थयस्व ॥९॥

हे ब्रह्मन् ! तुम्हें नमस्कार हो, मेरा कल्याण हो, तुम नमस्कारके योग्य अतिथि होकर भी मेरे घरमें तीन रात्रि भोजन किये विना रहे अतः एक एक रात्रिके लिए एक एक कर मुझसे तीन वर माँग लो ॥ ९ ॥

तिस्रो रात्रीर्यद्यस्मादवात्सीरुषितवानसि गृहे मे ममानश्नन्हे ब्रह्मन्नतिथिः सन्नमस्यो नमस्कारार्हश्च तस्मान्नमस्ते तुभ्यमस्तु भवतु । हे ब्रह्मन्स्वस्ति भद्रं मेऽस्तु तस्माद्भवतोऽनशनेन मद्गृहवासनिमित्ताद्दोषात्तत्प्राप्त्युपशमेन । यद्यपि भवदनुग्रहेण सर्वं मम स्वस्ति स्यात्तथापि त्वदधिकसंप्रसादनार्थमनशनेनोपोषितामेकैकां रात्रिं प्रति त्रीन्वरान् वृणीष्वाभिप्रेतार्थविशेषान्प्रार्थयस्व मत्तः ॥९॥

नचिकेतास्त्वाह—यदि दित्सुर्वरान्—

प्रथमवर-पितृपरितोष

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो ।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥१०॥

हे मृत्यो ! गौतमो (मम पिता) शान्तसङ्कल्पः सुमनाः (प्रसन्नमनाः) मा अभि (मां प्रति) वीतमन्युः (विगतकोपश्च) यथा स्यात् प्रतीतः (स एवायं मम पुत्रः समागत इत्येवं लब्धस्मृतिः सः) त्वत्प्रसृष्टं (त्वया प्रेषितं) मा अभि (मां प्रति) यथा वदेत्, एतत् त्रयाणां (वराणां मध्ये) प्रथमं वरं वृणे ॥१०॥

हे मृत्यो ! जिससे मेरे पिता गौतम मेरे प्रति शान्तसङ्कल्प, प्रसन्नचित्त व क्रोध रहित हों, तथा आपके द्वारा भेजे जानेपर मुझे पहचान सकें एवं मुझसे बात चीत करें यह मैं [आपके दिये] तीन वरोंमें प्रथम वर माँगता हूँ ॥ १०॥

हे ब्रह्मन् ! क्योंकि अतिथि और नमस्यः—नमस्कार योग्य होकर भी तुम तीन रात्रि (तीन दिन) विना कुछ भोजन किये मेरे घरमें रहे हो, अतः तुम्हें नमस्कार हो । हे ब्रह्मन् ! मेरे घरमें विना भोजन किये आपके निवास निमित्तक दोषसे, उससे प्राप्त अनिष्ट फलकी शान्ति द्वारा मेरा स्वस्ति-मङ्गल-शुभ हो । यद्यपि आपके अनुग्रहसे मेरा सब प्रकार कल्याण हो जायगा, तथापि आपकी अधिक प्रसन्नताके लिए विना भोजन किये निवास की गई एक एक रात्रिके प्रति तुम मुझसे तीन वर-अपने अभीष्ट पदार्थ-विशेष माँग लो ॥ ९ ॥

नचिकेताने कहा—यदि वर देना चाहते हैं, तो—

शान्तसंकल्प उपशान्तः संकल्पो यस्य मां प्रति यमं प्राप्य किं नु करिष्यति मम पुत्र इति स शान्तसंकल्पः सुमनाः प्रसन्नमनाश्च यथा स्याद्वीतमन्युर्विगतरोषश्च गौतमो मम पिता माभि मां प्रति हे मृत्यो किं च त्वत्प्रसृष्टं त्वया विनिर्मुक्तं प्रेषितं गृहं प्रति मामभिवदेत्प्रतीतो लब्धस्मृतिः स एवायं पुत्रो ममागत इत्येवं प्रत्यभिजानन्नित्यर्थः। एतत्प्रयोजनं त्रयाणां प्रथममाद्यं वरं वृणे प्रार्थये यत्पितुः परितोषणम् ॥ १० ॥

मृत्युरुवाच—

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः।
सुखँ रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ११

आरुणिः (अरुणस्यापत्यं पुमान्) औद्दालकिः (उद्दालक एव औद्दालकिः) पुरस्तात् (यमालये आगमनात् प्राक्) [त्वयि] यथा प्रतीतः (स्नेहवान् आसीत्) मत्प्रसृष्टः (मया अनुज्ञातः सन्) मृत्युमुखात् (मम अधिकारात्) प्रमुक्तं (विमुक्तं) त्वां ददृशिवान् (दृष्टवान् सन्) वीतमन्युः (गत कोपः भविता स्यात्) रात्रीः सुखं शयिता (सुखेन निद्रितो भविता) ॥ ११ ॥

मुझसे प्रेरित हो तुम्हारे पिता अरुणपुत्र औद्दालकि तुझे पूर्ववत् पहचान लेगा और शेष रात्रियोंमें सुखपूर्वक सोवेगा, क्रोध रहित हो तुमको मृत्युमुखसे मुक्त हुआ देखेगा ॥ ११ ॥

जिस प्रकार मेरे पिता मेरे प्रति शान्तसङ्कल्प उपशान्त सङ्कल्पवाला हों—'न जाने मेरा पुत्र यमराजके पास जाकर क्या करेगा' सुमनाः—प्रसन्नचित्त और वीतमन्यु-क्रोध रहित हों और हे मृत्यो ! आपसे भेजे हुए घरकी ओर जानेके लिए विमुक्त किये मुझसे विश्वस्त लब्ध स्मृति हों कि 'यह वही मेरा पुत्र मेरे पास आया है ऐसा जानकर मेरे साथ सम्भाषण करें' यह अपने पिताका प्रसन्नतारूप प्रयोजन ही मैं अपने तीन वरोंमेंसे प्रथम वर मांगता हूँ ॥ १० ॥

मृत्युने कहा—

सत्यानन्दीदीपिका

मेरे पिता 'मेरा पुत्र यमके पास जाकर क्या करेगा' इस प्रकारकी मोहजन्य मानसिक उद्विग्नता एवं मुझपर किया क्रोध दोनोंसे रहित हो और आपके द्वारा मुक्त हुए घर चले जानेपर यह न समझे कि यह प्रेत होकर आया है किन्तु यह वही मेरा नचिकेता पुत्र है, ऐसा समझकर मेरे साथ पूर्ववत् सस्नेह व्यवहार करे। प्रथमवरसे यही मांगता हूँ। इस मन्त्रसे पिताके प्रति पुत्रकी कर्तव्यनिष्ठा सूचित की गई है ॥ १० ॥

यथा बुद्धिस्त्वयि पुरस्तात् पूर्वमासीत्स्नेहसमन्विता पितुस्तव भविता प्रीतिसमन्वितस्तव पिता तथैव प्रतीतवान्सन्नौद्दालकिः, उद्दालक एवौद्दालकिः। अरुणस्यापत्यमारुणिः, द्व्यामुष्यायणो वा। मत्प्रसृष्टो मयानुज्ञातः सन् इतरा अपि रात्रीः सुखं प्रसन्नमनाः शयिता स्वप्ता वीतमन्युर्विगतमन्युश्च भविता स्यात्त्वां पुत्रं ददृशिवान्दृष्टवान्स मृत्युमुखान्मृत्युगोचरात्प्रमुक्तं सन्तम् ॥ ११ ॥

नचिकेता उवाच—

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१२॥

स्वर्गलोके किञ्चन (किञ्चिदपि) भयं नास्ति। तत्र (स्वर्गलोके) त्वं (मृत्युः) न, न च जरया (वृद्धावस्थया युक्तः सन्) बिभेति। उभे अशनायापिपासे तीर्त्वा (अतिक्रम्य) शोकातिगः (शोकम् अतिक्रान्तः सन्) स्वर्गलोके मोदते (हृष्यति-सुखमनुभवति) ॥ १२ ॥

हे यम ! स्वर्गलोकमें कुछ भी भय नहीं है। वहाँ आप नहीं हैं अर्थात् आपका भी प्रभाव नहीं है और जरासे कोई नहीं डरता, पुरुष स्वर्गलोकमें भूख-प्यास दोनोंका अतिक्रमण कर शोकसे मुक्त हो आनन्दित होता है ॥ १२ ॥

तुम्हारे पिताकी बुद्धि जिस प्रकार पूर्व तुम्हारे प्रति स्नेह युक्त थी उसी प्रकार मुझसे अनुज्ञात हो—अनुग्रह प्राप्त कर जानेपर वह औद्दालकि प्रीतियुक्त हो तुम्हारे प्रति विश्वस्त हो जायगा। यहाँ उद्दालक ही औद्दालकि है तथा अरुणका पुत्र होनेसे वह आरुणि है, अथवा यह भी हो सकता है कि वह द्व्यामुष्यायण हो। वह शेष रात्रियोंमें भी सुख पूर्वक-प्रसन्नमनसे शयन करेगा और क्रोध रहित हो जायगा, तथा वह तुम पुत्रको मृत्युमुखसे-मृत्यु अधिकारसे मुक्त हुआ देखनेवाला होगा ॥ ११ ॥

नचिकेता बोला—

सत्यानन्दीदीपिका

वयस एव वायसके समान उद्दालक एव औद्दालकि यहाँ भी स्वार्थमें ही तद्धित प्रत्यय है अथवा जो किसी प्रसिद्ध व्यक्तिका पुत्र और दूसरे द्वारा गोद (दत्तक) लिया हो वह 'द्व्यामुष्यायण' कहलाता है। एक ही पुत्र दो पिताओंद्वारा अपना उत्तराधिकारी निश्चित किया जाता है। वह एक ही दोनों पिताओंकी सम्पत्तिका स्वामी और पिण्डदान देनेका अधिकारी होता है, अतः अकेले वाजश्रवसको औद्दालकि और आरुणि कहनेसे यह सम्भव है कि वह उद्दालक और अरुण दो पिताओंका उत्तराधिकारी हो ॥ ११ ॥

स्वर्गे लोके रोगादिनिमित्तं भयं किंचन किंचिदपि नास्ति न च तत्र त्वं मृत्यो सहसा प्रभवस्यतो जरया युक्त इह लोकवत्त्वत्तो न बिभेति कुतश्चित्तत्र। किंचोभे अशनायापिपासे तीर्त्वातिक्रम्य शोकमतीत्य गच्छतीति शोकातिगः सन्मानसेन दुःखेन वर्जितो मोदते हृष्यति स्वर्गलोके दिव्ये ॥ १२ ॥

स त्वमग्निँ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वँश्रद्दधानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण ॥१३॥

हे मृत्यो ! स त्वं स्वर्ग्यं (स्वर्गसाधनम् अग्निम्, अध्येषि जानासि) [तम् अग्निं] श्रद्दधानाय (श्रद्धावते) मह्यं त्वं प्रब्रूहि (कथय) स्वर्गलोकाः (स्वर्गो लोको येषां ते अमृतत्वं (देवत्वं) भजन्ते (प्राप्नुवन्ति) एतद् अग्निविज्ञानं) द्वितीयवरेण वृणे (प्रार्थयेयम्) ॥ १३ ॥

हे यम ! आप स्वर्गके साधनभूत अग्निको जानते हैं। सो मुझ श्रद्धालुके प्रति उसका उपदेश-वर्णन कीजिए। जिसके द्वारा स्वर्गको प्राप्त पुरुष अमृतत्व प्राप्त करते हैं, दूसरे वरसे मैं यही माँगता हूँ ॥ १३ ॥

स्वर्गलोकमें रोगादि निमित्तक किञ्चिदपि भय नहीं है। हे मृत्यो ! वहाँ आपका भी सहसा प्रभाव नहीं पड़ता, अतः इस लोकके समान वहाँ वृद्धावस्थासे युक्त हो किसी प्रकार भी कोई आपसे भयभीत नहीं होता। किन्तु पुरुष भूख प्यास दोनोंका अतिक्रमण कर एवं शोकको अतिक्रान्तकर शोकातीत हो अर्थात् मानसिक दुःखसे रहित होकर दिव्य स्वर्गलोकमें हर्षित होता है अर्थात् सुखका अनुभव करता है ॥१२॥

सत्यानन्दीदीपिका

इस मन्त्रमें स्वर्गलोककी विशेषता कही गई है, दुःख बाहुल्य लोक नरक और सुख बाहुल्य लोक स्वर्ग कहलाता है। मृत्युलोकसे सम्बन्ध विच्छिन्न होनेपर पुण्योंके तारतम्यसे पुण्यात्मा लोग क्रमशः भुवः स्वः आदि दिव्य लोकोंमें सुख भोगार्थ जाते हैं। वे सब लोक उत्तरोत्तर अधिक दिव्य एवं सुख पूर्ण हैं। स्वर्ग सुखकी विचित्रता यह है वहाँ पुण्यात्माओंको शब्दादि विषयके उपभोगकी जब कभी इच्छा होती है उसी समय वह सब उपलब्ध हो जाता है, वहांके विषय एवं भोगायतन शरीर भी दिव्य होते हैं अर्थात् दिव्य विषयोंको भोगनेके लिए उन पुण्यात्माओंको दिव्य शरीर प्राप्त होते हैं। मृत्युलोकके समान किसी पदार्थके अभाव जन्य दुःखका अनुभव नहीं होता। इस विषयमें शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है—

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वः पदास्पदम् ॥

'जो सुख दुःखसे मिश्रित नहीं है, विघ्न बाधाओंसे ग्रस्त भी नहीं है, इच्छा करते पदार्थ प्राप्त हो जाता है वह सुख स्वर्ग पदवाच्य है ॥ १२ ॥

एवंगुणविशिष्टस्य स्वर्गलोकस्य प्राप्तिसाधनभूतमग्निं स त्वं मृत्युरध्येषि रसि जानासीत्यर्थः, हे मृत्यो यतस्त्वं प्रब्रूहि कथय श्रद्दधानाय श्रद्धावते मह्यं र्गार्थिने, येनाग्निना चितेन स्वर्गलोकाः स्वर्गो लोको येषां ते स्वर्गलोकाः जमाना अमृतत्वममरणतां देवत्वं भजन्ते प्राप्नुवन्ति। तदेतदग्निविज्ञानं तीयेन वरेण वृणे ॥ १३ ॥

मृत्योः प्रतिज्ञेयम्—

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥१४॥

हे नचिकेताः! [अहं] स्वर्ग्यम् अग्निं प्रजानन् (विशेषेण जानन्) ते (तुभ्यं) वीमि (प्रवच्मि) तत् उ (एव) मे (मत्सकाशात्) निबोध, त्वम् एतम् (उक्तरूपम् नम्) अनन्तलोकाप्तिं (स्वर्गलोकस्य प्राप्तिसाधनम्) अथो (अपि) प्रतिष्ठां (जगतः श्रयं) गुहायां (विदुषां बुद्धौ) निहितं (नितरां स्थितम्) विद्धि (जानीहि) ॥१४॥

हे नचिकेता! स्वर्गके साधनभूत उस अग्निको भली-भाँति जानता हुआ मैं को कहता हूँ। तुम समाहित चित्त हो उसे मुझसे अच्छी तरह जानो। इसे तुम त लोककी प्राप्तिका साधन, उसका आधार और बुद्धिरूप गुहामें स्थित जानो ॥१४॥

प्र ते तुभ्यं प्रब्रवीमि, यत्त्वया प्रार्थितं तदु मे मम वचसो निबोध बुध्यस्वै- मनाः सन्स्वर्ग्यं स्वर्गाय हितं स्वर्गसाधनमग्निं हे नचिकेतः प्रजानन्विज्ञात- हं सन्नित्यर्थः। प्रब्रवीमि तन्निबोधेति च शिष्यबुद्धिसमाधानार्थं वचनम्।

हे यम! आप [भय, मरण, भूख प्यास, शोकरहित] ऐसे गुण विशिष्ट स्वर्ग- की प्राप्तिके साधनभूत अग्निको स्मरण रखते हैं अर्थात् जानते हैं ऐसा अर्थ है। व स्वर्गार्थी श्रद्धालु मुझको उसका वर्णन कीजिए। जिस अग्निके चयनसे स्वर्गको करनेवाले अर्थात् स्वर्गलोक है जिनका ऐसे स्वर्गलोका-यजमान अमृतत्व-अमरणता- त्वको प्राप्त हो जाते हैं। इस अग्निविज्ञानको मैं द्वितीय वरसे माँगता हूँ ॥ १३ ॥

यह यमकी प्रतिज्ञा है—

हे नचिकेता! जिसके लिए तुमने प्रार्थना की थी उस स्वर्ग्य-स्वर्गके लिए हितरूप : स्वर्गके साधन भूत अग्निको तू एकाग्रचित्त हो मेरे वचनसे निबोध-भली-भाँति । उसे सम्यक् प्रकार जानता हुआ उसका मैं विशेषज्ञ, मैं तेरे प्रति उसको कहता प्रब्रवीमि तन्निबोध' 'मैं कहता हूँ तू उसे जान' ये वाक्य शिष्यकी बुद्धिको समाहित

सत्यानन्दीदीपिका

[आदि लोकोंकी अपेक्षा दीर्घकाल स्थायी होनेसे स्वर्गलोकको अनन्त कहा गया आभूतसम्प्लवममृतत्वं प्रचक्षते' (प्रलय पर्यन्त स्थायी होनेसे स्वर्गलोकको अमृत

अधुनाग्निं स्तौति। अनन्तलोकाप्तिं स्वर्गलोकफलप्राप्तिसाधनमित्येतत्, अथं अपि प्रतिष्ठामाश्रयं जगतो विराड्रूपेण, तमेतमग्निं मयोच्यमानं विद्धि जानीहि त्वं निहितं स्थितं गुहायां विदुषां बुद्धौ निविष्टमित्यर्थः ॥ १४ ॥

इदं श्रुतेर्वचनम्—

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥१५

[यमः] तस्मै (नचिकेतसे) लोकादिं (लोकानां आदिं प्रथमं) तं (प्रसिद्धम् अग्निम् (अग्निविज्ञानम्) उवाच (उक्तवान्) याः (यत्स्वरूपाः) यावतीः (या संख्यकाः) या इष्टिकाः (चेतव्याः) यथा (येन प्रकारेण) वा [अग्निः चीयते सः (नचिकेताः) च अपि तत् (मृत्युना कथितं) यथोक्तं (यथावत्) प्रत्यव (अनूदितवान्) अथ (अनन्तरं) मृत्युः तुष्टः (सन्तुष्टः सन्) पुनः एव (अपि) अ (नचिकेतस) आह ॥ १५ ॥

तब यमराजने लोकोंके आदि प्रथम उस अग्निका तथा उसके चयन करनेमें जै और जितनी ईंटें होती हैं तथा जिस प्रकार उसका चयन किया जाता है उन सब नचिकेताके प्रति वर्णन कर दिया। उस नचिकेताने भी जैसा उस यमराजसे कहा ग था वह सब सुना दिया, इससे प्रसन्न हो मृत्यु नचिकेतासे फिर भी बोला ॥ १५ ॥

लोकादिं लोकानामादिं प्रथमशरीरित्वादग्निं तं प्रकृतं नचिकेतसा प्रार्थि मुवाचोक्तवान्मृत्युस्तस्मै नचिकेतसे। किं च या इष्टकाश्चेतव्याः स्वरूपे

करनेके लिए हैं। अब उस अग्निकी स्तुति करते हैं। जो अनन्तलोकाप्ति-स्वर्गलोक फलकी प्राप्तिका साधन तथा विराड्रूपसे जगत्की प्रतिष्ठा-आश्रय है। मेरे द्वारा हुए उस इस अग्निको तू गुहामें अर्थात् विद्वानोंकी बुद्धिरूपगुहामें स्थित-निविष्ट जा यह अर्थ है ॥ १४ ॥

यह श्रुतिका वचन है—

प्रथम शरीरी होनेके कारण लोकोंके आदिभूत नचिकेतासे प्रार्थित उस प्र अग्निको यमराजने उस नचिकेताके प्रति कह दिया। तथा स्वरूपसे जिस प्रकारकी

सत्यानन्दीदीपिका

एवं अनन्त कहा गया है) यह पुराणवचन है। अतः स्वर्गमें सापेक्ष अनन्तत्व 'अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां' 'अग्नि जगत्की प्रतिष्ठा है' यमराजकी इस प्रतिज्ञा आधार यह श्रुतिवाक्य है—'स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुत' उसने अपनेको तीन प्रकार कि अर्थात् अग्नि, वायु और आदित्यरूपसे समष्टिरूप विराड् ही अवस्थित है। इस प्रक विराड्रूपसे अग्नि ही जगत्की प्रतिष्ठा कही गई है। वस्तुतः नक्षत्रादि अनेकरूपसे अ ही जगत्का धारक है ॥ १४ ॥

केतसः संज्ञया प्रसिद्धः) भविता (भविष्यति) इमाम् अनेकरूपां (विचित्रां) सृङ्क (शब्दवतीं मालां) गृहाण (स्वीकुरु) ॥ १६ ॥

महात्मा यमने प्रसन्न हो उससे कहा—अब मैं इस विषयमें पुनः तुझे एक अन्य व भी प्रदान करता हूँ। यह अग्नि तेरे ही नामसे प्रसिद्ध होगी और तू इस अनेक रूपवाल मालाको ग्रहण कर ॥ १६ ॥

तं नचिकेतसमब्रवीत्प्रीयमाणः शिष्ययोग्यतां पश्यन्प्रीयमाणः प्रीतिमनु अवन्महात्माऽक्षुद्रबुद्धिर्वरं तव चतुर्थमिह प्रीतिनिमित्तमद्येदानीं ददामि भूयः पुन प्रयच्छामि। तवैव नचिकेतसो नाम्ना विधानेन प्रसिद्धो भविता मयोच्यमा नोऽयमग्निः। किं च सृङ्कां शब्दवतीं रत्नमयीं मालामिमामनेकरूपां विचित्र गृहाण स्वीकुरु। यद्वा सृङ्कामकुत्सितां गतिं कर्ममयीं गृहाण। अन्यदपि कर्मविज्ञानमनेकफलहेतुत्वात्स्वीकुर्वित्यर्थः ॥ १६ ॥

किस प्रकार कहा—

अपने शिष्यकी योग्यताको देखकर प्रसन्न हुए प्रीतिका अनुभव करते हुए महात्मा उदार बुद्धि यमने नचिकेतासे कहा—अब मैं प्रसन्नताके कारण तुझे पुनरपि यह अन्य चतुर्थ वर देता हूँ। मेरे द्वारा कही हुई यह अग्नि तुझ नचिकेताके ही नामसे प्रसिद्ध होगी। तथा तू इस शब्द करनेवाली रत्नमयी अनेकरूपा विचित्रवर्णा मालाको भी ग्रहण-स्वीकार कर। अथवा सृङ्का अर्थात् कर्ममयी अनिन्दिता गतिको ग्रहण कर। तात्पर्य यह है कि अनेक फलका कारण होनेसे तू मुझसे अन्य कर्मविज्ञानको स्वीकृतकर, यह अर्थ है ॥ १६ ॥

सत्यानन्दीदीपिका

जीवकर्म कहा है, इन दोनोंसे पृथक् ऐशकर्म है जिसमें नचिकेताको यमराज ले जाना चाहते हैं ॥ १५ ॥

यमराजकी कृपासे नचिकेताको देवत्व प्राप्त होनेके कारण उसे माला दी जा रही है, नील, पीत आदि अनेक रूपोंवाली होनेसे माला अनेकवर्णा है। गत्यर्थक सृज् धातुसे सृङ्का शब्द निष्पन्न हुआ है, अतः वह अनिन्दितागति-धूमादि और अर्चिरादिगति द्वारा अनेक फलोंको प्राप्त करानेवाली है। फल भेदसे अनेकरूप शास्त्र प्रसिद्ध कर्मविज्ञानको भी ग्रहण कर अर्थात् प्रसन्न होकर यमराजने नचिकेताको समस्त कर्मविषयक ज्ञान प्रदान किया। जब असाधारण पुण्यशाली जीव अपने असाधारण कर्मादिके प्रभावसे मनुष्य श्रेणीसे देवत्व श्रेणीमें प्रविष्ट होता है। तब वह देवभाव प्राप्तकर ऐशकर्मके अधीन हो जाता है। जिस कर्मद्वारा दैवजगत्की शृङ्खला स्थिर रहती है उसे ऐशकर्म कहा गया है। जिस नियमके अनुसार सूर्य, चन्द्रमाका उदय-अस्त, ऋतुओंका परिवर्तन

पुनरपि कर्मस्तुतिमेवाह—

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू ।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाँ शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १७॥

त्रिभिः (त्रिभिः सह) सन्धिं (सन्धानं सम्बन्धम्) एत्य (प्राप्य) त्रिणाचिकेतः (त्रिःकृत्वः नाचिकेतः अग्निः चितः येन सः) त्रिकर्मकृत् जन्ममृत्यू तरति (अतिक्रामति) ईड्यं (स्तुत्यं) ब्रह्मजज्ञं देवं विदित्वा (ज्ञात्वा) निचाय्य (आत्मभावेन दृष्ट्वा) इमां शान्तिं अत्यन्तम् एति (अतिशयेन प्राप्नोति) ॥ १७ ॥

त्रिणाचिकेत अग्निका तीन बार चयन करनेवाला मनुष्य [माता पिता और आचार्य इन] तीनोंसे सम्बन्धको प्राप्त होकर जन्म मृत्युका अतिक्रमण कर जाता है तथा ब्रह्मसे उत्पन्न ज्ञानवान् एवं स्तुतियोग्य देवको जानकर और उसे आत्मरूपसे अनुभवकर इस स्वबुद्धिप्रत्यक्ष अत्यन्त शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ १७ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रिः कृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो येन स त्रिणाचिकेतस्तद्विज्ञानस्तदध्ययनस्तदनुष्ठानवान्वा । त्रिभिर्मातृपित्राचार्यैरेत्य प्राप्य सन्धिं सन्धानं सम्बन्धं मात्राद्यनुशासनं यथावत्प्राप्येत्येतत् । तद्धि प्रामाण्यकारणं श्रुत्यन्तरादवगम्यते यथा 'मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्' (बृह० ४।१।२) इत्यादेः ।

यमराज फिर भी कर्मकी स्तुति ही करते हैं—

जिसने तीन बार नाचिकेत अग्निका चयन किया है वह त्रिणाचिकेता है । अथवा उसका ज्ञान, अध्ययन और अनुष्ठान करनेवाला त्रिणाचिकेता है । वह त्रिणाचिकेत माता, पिता तथा आचार्य इन तीनोंसे सन्धि-सन्धान-सम्बन्धको प्राप्त होकर अर्थात् यथाविधि माता आदिके द्वारा उपदेश-शिक्षा प्राप्तकर, क्योंकि एक अन्य श्रुतिसे उनका उपदेश धर्मज्ञानकी प्रामाणिकतामें हेतु अवगत होता है, जैसा कि 'माता, पिता और

सत्यानन्दीदीपिका

होता है और अष्टवसु, द्वादश आदित्य, एकादश रुद्र तथा स्वयं यमराज महत् देवपदवी प्राप्तकर अपने अपने धर्मका पालन करते हैं, वे सब ऐशकर्मके अधीन हैं। अब तक नचिकेता जैवकर्मके अनुसार मृत्युलोकके भोगोपयोगी कर्मगतिसे सम्बन्धित थे अब यमराजके अनुग्रहसे वह देवत्वके अधिकारी हो गये, उनका सम्बन्ध अब ऐशकर्मके साथ हो गया, उनके नामसे विशेष अग्नि अभिहित होगी तथा यज्ञादिमें भी उनके नामका सम्बन्ध रहेगा ॥ १६ ॥

यज्ञ-ज्योतिष्टोमादि याग, यथा 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' 'ज्योतिष्टोमेन यजेत' इत्यादि यागोंका विधान है । 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस स्वाध्यायविधिसे वेदाध्ययनका ग्रहण है । 'बहिर्वेदिदीयमानं दानम्' यज्ञवेदिसे बाहर दिया धन आदि दान और यज्ञ-

वेदस्मृतिशिष्टैर्वा प्रत्यक्षानुमानागमैर्वा, तेभ्यो हि विशुद्धिः प्रत्यक्षा, त्रिकर्मकृदिज्याध्ययनदानानां कर्ता तरत्यतिक्रामति जन्ममृत्यू। किं च ब्रह्मजज्ञं ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाज्जातो ब्रह्मजः, ब्रह्मजश्चासौ ज्ञश्चेति ब्रह्मजज्ञः सर्वज्ञो ह्यसौ। तं देवं द्योतनाज्ज्ञानादिगुणवन्तमीड्यं स्तुत्यं विदित्वा शास्त्रतो निचाय्य दृष्ट्वा चात्मभावेनेमां स्वबुद्धिप्रत्यक्षां शान्तिमुपरतिमत्यन्तमेत्यतिशयेनैति। वैराजं पदं ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानेन प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

इदानीमग्निविज्ञानचयनफलमुपसंहरति प्रकरणं च—

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वाँश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १८ ॥

यः त्रिणाचिकेतः एतत् (यथोक्त) त्रयं विदित्वा (ज्ञात्वा) नाचिकेतम् (अग्निम्) एवम् (एवं प्रकारेण) विद्वान् चिनुते (निर्वर्तयति) सः पुरतः (शरीरपातात्पूर्वं)

आचार्यवान् अर्थात् तीनोंसे शिक्षित पुरुष कहे' इत्यादि श्रुति है। अथवा वेद, स्मृति और शिष्टपुरुषों अथवा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमसे सम्बन्ध प्राप्तकर यज्ञ, अध्ययन, तथा दान इन तीनों कर्मोंका कर्ता जन्ममृत्युका अतिक्रमण कर जाता है, क्योंकि तीनोंसे प्रत्यक्ष-स्पष्ट शुद्धि होती है। 'ब्रह्मजज्ञ' ब्रह्मसे-हिरण्यगर्भसे उत्पन्न हुआ ब्रह्मज है वह ब्रह्मज ही ज्ञ-सर्वज्ञ है, प्रकाशमान होनेसे देव, ज्ञानादिगुण विशिष्ट होनेसे ईड्य-स्तुतिके योग्य है उसे शास्त्रसे जानकर और 'निचाय्य' आत्मभावसे अनुभवकर अपनी बुद्धिसे प्रत्यक्ष होनेवाली इस आत्यन्तिक शान्ति-उपरतिको अतिशयसे प्राप्त हो जाता है अर्थात् ज्ञान-उपासना और कर्मके समुच्चय अनुष्ठान करनेसे वैराजपदको प्राप्त हो जाता है यह अर्थ है ॥ १७ ॥

सत्यानन्दीदीपिका

वेदिके अन्दर ऋत्विजोंको दिया धन आदि दक्षिणा कहलाता है। 'विंशत्यधिकानि सप्तशतानीष्टकानां संख्या संवत्सरस्य च प्रातःसायंकालयोरनुष्ठीयमानान्यग्निहोत्राणि तावत्संख्याकान्येव' 'संवत्सरमें प्रातः और सायंकालमें अनुष्ठित अग्निहोत्रोंकी संख्या ७२० होती है, तदनुसार यागमें इष्टकाओंकी संख्या भी ७२० है। जिस प्रकार इष्टकाओंका संग्रह, चयन किया जाता है, तथा शास्त्रोंमें फलभेदसे अनेक कर्मोंका विधान है, यह सब सरहस्य यमराजने नचिकेताको समझा दिया, नचिकताने भी उन सबको भलीभाँति हृदयंगम कर लिया। वेदादि अथवा प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे धर्मादिका भलीभाँति ज्ञान होना ही यहाँ विशुद्धि है, धर्मादि अतीन्द्रिय हैं, अतः उनका ज्ञान वेदादि द्वारा ही संभव है। इस विषयमें 'आचार्यवान् पुरुषोवेद' (छा०) इत्यादि श्रुति भी है ॥ १७ ॥

वेदस्मृतिशिष्टैर्वा प्रत्यक्षानुमानागमैर्वा, तेभ्यो हि विशुद्धिः प्रत्यक्षा, त्रिकर्मकृदिज्याध्ययनदानानां कर्ता तरत्यतिक्रामति जन्ममृत्यू। किं च ब्रह्मजज्ञं ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाज्जातो ब्रह्मजः, ब्रह्मजश्चासौ ज्ञश्चेति ब्रह्मजज्ञः सर्वज्ञो ह्यसौ। तं देवं द्योतनाज्ज्ञानादिगुणवन्तमीड्यं स्तुत्यं विदित्वा शास्त्रतो निचाय्य दृष्ट्वात्मभावेनेमां स्वबुद्धिप्रत्यक्षां शान्तिमुपरतिमत्यन्तमेत्यतिशयेनैति। वैराजं पदं ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानेन प्राप्नोतीत्यर्थः॥ १७॥

इदानीमग्निविज्ञानचयनफलमुपसंहरति प्रकरणं च—

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वाꣳश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥ १८॥

सः त्रिणाचिकेतः एतत् (यथोक्त) त्रयं विदित्वा (ज्ञात्वा) नाचिकेतम् (अग्निम्) एवम् (एवं प्रकारेण) विद्वान् चिनुते (निर्वर्तयति) सः पुरतः (शरीरपातात्पूर्व)

आचार्यवान् अर्थात् तीनोंसे शिक्षित पुरुष कहे' इत्यादि श्रुति है। अथवा वेद, स्मृति और शिष्टपुरुषों अथवा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमसे सम्बन्ध प्राप्तकर यज्ञ, अध्ययन, तथा दान इन तीनों कर्मोंका कर्ता जन्ममृत्युका अतिक्रमण कर जाता है, क्योंकि तीनोंसे प्रत्यक्ष-रूप शुद्धि होती है। 'ब्रह्मजज्ञ' ब्रह्मासे-हिरण्यगर्भसे उत्पन्न हुआ ब्रह्मज है वह ब्रह्मज ही ज्ञ-सर्वज्ञ है, प्रकाशमान होनेसे देव, ज्ञानादिगुण विशिष्ट होनेसे ईड्य-स्तुतिके योग्य है उसे शास्त्रसे जानकर और 'निचाय्य' आत्मभावसे अनुभवकर अपनी बुद्धिसे प्रत्यक्ष होनेवाली इस आत्यन्तिक शान्ति-उपरतिको अतिशयसे प्राप्त हो जाता है अर्थात् ज्ञान-उपासना और कर्मके समुच्चय अनुष्ठान करनेसे वैराजपदको प्राप्त हो जाता है यह अर्थ है॥ १७॥

सत्यानन्दीदीपिका

ऋत्विक आदि [illegible] ऋत्विजोंको दिया धन आदि दक्षिणा कहलाता है। 'विंशत्यधिकानि सप्तशतसंख्याकानि [illegible] संवत्सरस्य च प्रातःसायंकालयोरनुष्ठीयमानान्यग्निहोत्राणि [illegible] संवत्सरमें प्रातः और सायंकालमें अनुष्ठित अग्निहोत्रोंकी संख्या ७२० होती है, तदनुसार अग्निमें इष्टकाओंकी संख्या भी ७२० है। जिस प्रकार इष्टकाओंका चयन किया जाता है, तथा शास्त्रोंमें फलभेदसे अनेक कर्मोंका विधान है, [illegible] नचिकेताको समझा दिया, नचिकताने भी उन सबको भलीभाँति हृदयंगम कर लिया। वेदादि अथवा प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे धर्मादिका भलीभाँति ज्ञान होना ही उनकी विशुद्धि है, धर्मादि अतीन्द्रिय हैं, अतः उनका ज्ञान वेदादि द्वारा ही संभव है। इस विषयमें 'आचार्यवान् पुरुषोवेद' (छा०) इत्यादि श्रुति भी है॥ १७॥

मृत्युपाशान् (अधर्मादीन्) प्रणोद्य (निरस्य) शोकातिगः (शोकातीतः सन्) स्वर्गलोके मोदते (सुखं प्राप्नोति) ॥ १८ ॥

जो त्रिणाचिकेत विद्वान् अग्निके इस त्रयको (कैसी ईंटें हों, कितनी संख्यामें हों और किस प्रकार अग्निका चयन किया जाय इसको) जानकर नाचिकेत अग्निका चयन करता है, वह देहपातसे पूर्व अधर्मादि मृत्युबन्धनोंको छिन्नकर शोकसे मुक्त हो स्वर्गलोकमें आनन्दित होता है ॥ १८ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रयं यथोक्तं या इष्टका यावतीर्वा यथा वेत्येतद् विदित्वावगम्य यश्चैवमात्मरूपेणाग्निं विद्वांश्चिनुते निर्वर्तयति नाचिकेतमग्निं क्रतुं स मृत्युपाशानधर्माज्ञानुरागद्वेषादिलक्षणान्पुरतः अग्रतः पूर्वमेव शरीरपातादित्यर्थः, प्रणोद्यापहाय शोकातिगो मानसैर्दुःखैर्वर्जित इत्येतत् । मोदते स्वर्गलोके वैराजे विराडात्मस्वरूपप्रतिपत्त्या ॥ १८ ॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण ।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥ १९ ॥

हे नचिकेतः ! ते (तुभ्यम्) एष स्वर्ग्यः (स्वर्गसाधनभूतः) अग्निः (अग्निः सम्बद्धः वरः) [दत्तः] यं (वरं) द्वितीयेन वरेण अवृणीथाः (वृतवान् असि) जनासः (जनाः) एतम् अग्निं तव एव [नाम्ना] प्रवक्ष्यन्ति । [अधुना] हे नचिकेतः तृतीयम् (अवशिष्टं) वरं वृणीष्व ॥ १९ ॥

हे नचिकेता ! तूने द्वितीयवरसे जिसका वरण किया था स्वर्गके साधनभूत उस इस अग्निका उपदेश तुझे कर दिया । लोग इस अग्निको तेरे ही नामसे कहेंगे । हे नचिकेता ! अब अवशिष्ट तृतीय वर माँगले ॥ १९ ॥

एष ते तुभ्यमग्निर्वरो हे नचिकेतः स्वर्ग्यः स्वर्गसाधनो यमग्निं वरमवृणीथाः

अब अग्निविज्ञान तथा उसके चयनके फलका और इस प्रकरणका उपसंहार करते हैं—

जो त्रिणाचिकेत अग्निके यथोक्त त्रयको-जो ईंटें हों जितनी हों और जिस प्रकार अग्निका चयन हो अर्थात् ईंटोंका स्वरूप, संख्या और चयन प्रणालीको जानकर उस अग्निका आत्मरूपसे जाननेवाला विद्वान् चयन करता है अर्थात् जो विद्वान् नाचिकेत अग्निका क्रतु-ध्यान-संपादन करता है वह अधर्म, अज्ञान, रागद्वेषादिरूप मृत्युके बन्धनोंका पुरतः अग्रतः शरीरपातसे पूर्व ही नाशकर शोकसे मुक्त हुआ अर्थात् मानसिक दुःखोंसे मुक्त हुआ स्वर्गलोकमें-वैराजलोकमें विराडात्मस्वरूपकी प्राप्ति होनेसे आनन्दित होता है ॥ १८ ॥

हे नचिकेता ! द्वितीय वरसे तूने अग्निका वरण किया था जिसके लिये तूने

प्रार्थितवानसि द्वितीयेन वरेण सोऽग्निर्वरो दत्त इत्युक्तोपसंहारः। किंचैतमग्निं तवैव नाम्ना प्रवक्ष्यन्ति जनासो जना इत्येतत्। एष वरो दत्तो मया चतुर्थस्तुष्टेन। तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व। तस्मिन्ह्यदत्त ऋणवानहमित्यभिप्रायः॥ १९॥

एतावद्व्यतिक्रान्तेन विधिप्रतिषेधार्थेन मन्त्रब्राह्मणेनावगन्तव्यं यद्वरद्वयसूचितं वस्तु। नात्मतत्त्वविषययाथात्म्यविज्ञानम्। अतो विधिप्रतिषेधार्थविषयस्यात्मनि क्रियाकारकफलाध्यारोपलक्षणस्य स्वाभाविकस्याज्ञानस्य संसारबीजस्य निवृत्त्यर्थं तद्विपरीतब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं क्रियाकारकफलाध्यारोपणलक्षणशून्यमात्यन्तिकनिःश्रेयसप्रयोजनं वक्तव्यमित्युत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते। तमेतमर्थं द्वितीयवरप्राप्त्याप्यकृतार्थत्वं तृतीयवरगोचरमात्मज्ञानमन्तरेणेत्या-

---

प्रार्थना की थी वह स्वर्ग प्राप्तिका साधनभूत यह अग्नि विज्ञानरूप वर मैंने तुझे दे दिया। इस प्रकार उपर्युक्त अग्निविज्ञानका उपसंहार कहा गया, यही नहीं, लोग इस अग्निको तेरे ही नामसे कहेंगे। प्रसन्न हुए मैंने तुझे यह चौथा वर दिया। हे नचिकेता! अब तू तीसरा वर माँग ले, क्योंकि उसे विना दिये मैं ऋणी हुँ, ऐसा अभिप्राय है॥ १९॥

विधि प्रतिषेध प्रयोजनवाले ऐसे उपर्युक्त मंत्रब्राह्मण द्वारा इन दोनों वरोंसे सूचित जो वस्तु ज्ञातव्य है वह आत्मतत्त्व विषयक-यथार्थज्ञान विषयक नहीं है, अतएव विधि प्रतिषेधार्थविषयक, आत्मामें क्रिया, कारक, फलका अध्यारोप करना ही है लक्षण जिसका ऐसे संसारके बीजरूप आविद्यक-अज्ञानकी निवृत्तिके लिये उसके विपरीत क्रिया, कारक, फलाध्यारोप लक्षण शून्य आत्यन्तिक निःश्रेयस प्रयोजनवाले ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानको कहना चाहिए, इसके लिए उत्तर ग्रन्थका आरम्भ किया जाता है। इसी अर्थ-बातको आख्यायिकाद्वारा विस्तृत करते हैं—तृतीय वर विषयक आत्मज्ञानके विना द्वितीयवरकी प्राप्तिसे अकृतार्थता ही है, क्योंकि पूर्वोक्त कर्मविषयक साध्य-साधनरूप अनित्य

सत्यानन्दीदीपिका

पिताके सौमनस्यसे लेकर स्वर्गलोक पर्यन्त जो दो वरोंसे सूचित किया गया है, वह सब संसाररूप है, वही कर्मकाण्डद्वारा उपनिषद् प्रतिपाद्य आत्मामें अध्यारोपित है उसका निवर्त्तक आत्मज्ञान है। इस प्रकार अध्यारोप और अपवादरूपसे पूर्वोत्तर ग्रन्थका सम्बन्ध है। 'स्वर्गकामो यजेत, सुरां न पिबेत्' इस प्रकार उपनिषद् व्यतिरिक्त मंत्रब्राह्मण विधि, प्रतिषेध द्वारा प्रवृत्ति, निवृत्ति प्रयोजनवाला है। संसारका बीज अज्ञान है, उससे ही यज्ञादि क्रियाओं, कर्ता, कर्म आदि कारकों, स्वर्गादि फलों तथा प्रमातृ प्रमेयादिको आत्मामें आरोपित किया जाता है अर्थात् मैं यज्ञादि क्रियाओंका कर्ता और स्वर्गादि फलोंका भोक्ता हूँ, इस प्रकार असङ्ग आत्मामें आरोप करता है,

श्रयति यतः पूर्वस्मात्कर्मगोचरात्साध्यसाधनलक्षणादनित्याद्वि-
न्नेऽधिकार इति तन्निन्दार्थं पुत्राद्युपन्यासेन प्रलोभनं क्रियते।
तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्वेत्युक्तः सन्—

विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
मनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥२०॥

णिमात्रे) प्रेते (मृते सति) या (सर्वजनविदिता) इयं (प्रत्यक्षसिद्धा)
यः) अयं (परलोकगामी आत्मा) अस्ति इति एके (केचन वादिनः
इति च एके (केचिद् वदन्ति) अहं त्वया अनुशिष्टः (उपदिष्टः सन्)
वं) विद्याम् (विजानीयां) वराणां (मध्ये) एषः तृतीयः वरः ॥१२०॥

विषयमें जो यह संदेह है कि कोई कहते हैं कि आत्मा है और कोई
र नहीं है। आपसे उपदिष्ट हुआ मैं इसे जान सकूँ, 'वरोंमें यह
१० ॥

कित्सा संशयः प्रेते मृते मनुष्येऽस्तीत्येकेऽस्ति शरीरेन्द्रियमनो-
देहान्तरसम्बन्ध्यात्मेत्येके नायमस्तीति चैके नायमेवंविधोऽस्तीति
ं न प्रत्यक्षेण नापि वानुमानेन निर्णयविज्ञानमेतद्विज्ञानाधीनो

धका ही आत्मज्ञानमें अधिकार है। इसलिए उनकी निन्दाके लिए
से नचिकेताको प्रलोभित किया जाता है। हे नचिकेता! 'तुम तृतीय
प्रकार यमराजद्वारा कहे जानेपर नचिकेता बोला—

ष्यके विषयमें जो यह संदेह है कि कोई लोग तो ऐसा कहते हैं कि देह,
र बुद्धिसे अतिरिक्त देहान्तरसे सम्बन्ध रखनेवाला आत्मा है और
कि इस प्रकारका कोई आत्मा नहीं है, अतः इसके विषयमें हमें
अनुमानसे भी ऐसा निश्चित ज्ञान नहीं होता और परम पुरुषार्थ इस

सत्यानन्दीदीपिका

ारसे भिन्न ब्रह्मात्मैकत्व वृत्त्यारूढ़ ज्ञान ही आत्यन्तिक निःश्रेयस
विद्याकी निवृत्ति तथा परमानन्दकी प्राप्तिरूप प्रयोजनवाला है, अतः
र सातिशय फलसे विरक्त पुरुष ही आत्मज्ञानमें अधिकारी है, इसी
े हैं—

ब्द प्राणिमात्रका बोधक है। वादियोंकी विप्रतिपत्ति-विरुद्धवचन ही
यथा—'स्थूलोऽहं कृशोऽहम्' इत्यादि लौकिक प्रतीतिसे देहात्मवादी
न सिद्ध इस देहसे भिन्न आत्मा नहीं है। 'शृणोमि, पश्यामि' 'सुनता

हि परः पुरुषार्थ इत्यत एतद्विद्यां विजानीयामहमनुशिष्टो ज्ञापितस्त्वया। वराणामेष वरस्तृतीयोऽवशिष्टः ॥ २० ॥

किमयमेकान्ततो निःश्रेयससाधनात्मज्ञानार्हो न वेत्येतत्परीक्षणार्थमाह—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः ।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥२१॥

देवैः अपि अत्र (अस्मिन् विषये) पुरा (पूर्वं) विचिकित्सितं (संशयितम्) एष (आत्मा) धर्मः (जगद्धारकः) अणुः (सूक्ष्मः) हि (यतः) न सुज्ञेयः [अतः] हे नचिकेतः ! अन्यं वरं वृणीष्व मा (मां) मा उपरोत्सीः (उपरोधम्-अतिशयाग्रहं मा कार्षीः मा (मां प्रति) एनं (वरम्) अतिसृज (परित्यज) ॥ २१ ॥

पूर्वकालमें देवताओंको भी इस विषयमें सन्देह हुआ था, क्योंकि यह सूक्ष्म धर्म सुगमतासे जानने योग्य नहीं है। हे नचिकेता ! तू दूसरा वर माँगले, मुझसे इस विषयमें अनुरोध-आग्रह न कर, तू मेरे लिए यह वर छोड़ दे ॥ २१ ॥

विज्ञानके अधीन है। इसलिये आपसे उपदिष्ट-विज्ञापित हो मैं इसे भलीभाँति जान सकूँ। यही मेरे वरोंमें अवशिष्ट यह तृतीय वर है ॥ २० ॥

क्या यह नचिकेता नियमतः-वस्तुतः-पूर्णतः मोक्षके साधन आत्मज्ञानके योग्य हैं अथवा नहीं ? इस बातकी परीक्षा हेतु यमराजने कहा—

सत्यानन्दीदीपिका

हूँ, देखता हूँ' इत्यादि प्रतीतिके आधारपर 'इन्द्रिय ही आत्मा है' ऐसा इन्द्रिय आत्मवादी कहते हैं। 'मन इत्यन्ये' इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति मनके अधीन है और 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' ऐसी श्रुति भी है, अतः मन ही आत्मा है। 'बुद्धिरित्यपरे' विज्ञानवादी क्षणिकविज्ञान-बुद्धिको आत्मा मानते हैं, 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' ऐसी श्रुति भी है। कोई आत्माको कर्ता भोक्ता, कोई केवल भोक्ता आदि मानते हैं। यदि इस प्रकारकी विप्रतिपत्तिसे संशय हो तो स्वयं ही निर्णय कर लेना चाहिए इस विषयमें प्रश्न करना व्यर्थ है ? यह सत्य है, परन्तु जैसे स्थाणुमें प्रत्यक्षसे 'यह स्थाणु हैं' ऐसा निश्चय होनेपर 'स्थाणु है वा पुरुष' पुनः ऐसा संदेह नहीं होता, वैसे देहसे भिन्न आत्माके अस्तित्वमें सन्देहके विद्यमान होनेपर प्रत्यक्षसे निर्णय नहीं हो सकता और परलोक सम्बन्धी आत्मव्याप्य लिङ्गके न होनेपर अनुमानसे भी निश्चय नहीं हो सकता, अतः इस विषयमें प्रश्न सार्थक है। आत्मविषयक विज्ञान निष्फल भी नहीं है, क्योंकि इससे ही अविद्या निवृत्ति पूर्वक दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति और नित्य निरतिशय आनन्दकी प्राप्तिरूप परम पुरुषार्थ सिद्ध होता है ॥ २० ॥

देवैरप्यत्रैतस्मिन्वस्तुनि विचिकित्सितं संशयितं पुरा पूर्वं न हि सुज्ञयं सुष्ठु ज्ञेयं श्रुतमपि प्राकृतैर्जनैर्यतोऽणुः सूक्ष्म एष आत्माख्यो धर्मोऽतोऽन्यमसंदिग्धफलं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मां मोपरोत्सीरुपरोधं मा कार्षीरधमर्णमिवोत्तमर्णः। अतिसृज विमुञ्चैनं वरं मा मां प्रति ॥ २१ ॥

एवमुक्तो नचिकेता आह—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुज्ञेयमात्थ ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ।२२।

मृत्यो ! अत्र (अस्मिन् विषये) किल देवैः अपि विचिकित्सितं (संदिग्धं) त्वं च यत् न सुज्ञेयं आत्थ (कथयसि) अस्य (आत्मतत्त्वस्य) वक्ता च त्वादृक् (त्वत्सदृशः) अन्यः न लभ्यः [अतः] एतस्य (वरस्य) तुल्यः अन्यः कश्चित् वरः न (नास्ति) ॥ २२ ॥

हे मृत्यो ! निश्चय ही देवताओंने भी इस विषयमें सन्देह किया था, आप भी ऐसा कहते हैं कि यह तत्त्व सुज्ञेय नहीं है। इस आत्मतत्त्वका वक्ता आपके समान अन्य मिलना भी संभव नहीं है और इस वरके समान कोई अन्य वर भी नहीं है ॥२२॥

पूर्वकालमें देवताओंको भी इस आत्मरूप वस्तुमें विचिकित्सा-संशय हुआ था। साधारण पुरुषों द्वारा सुना हुआ भी यह तत्त्व सुगमतया भलीभाँति जानने योग्य नहीं है, क्योंकि यह आत्मा नामक धर्म अणु-अतिसूक्ष्म-दुर्विज्ञेय है, अतः हे नचिकेता ! इससे भिन्न कोई निश्चित फलवाला वर माँग ले, जैसे ऋण देनेवाला धनी ऋणीको बाध्य करता है वैसे तू मुझे बाध्य मत कर, इस वरको तू मेरे लिए छोड़ दे ॥ २१ ॥

यमराजके ऐसा कहनेपर नचिकेताने कहा—

सत्यानन्दीदीपिका

छान्दोग्योपनिषद्के अष्टम अध्यायमें आत्मविषयक सन्देहका विवरण इस प्रकार है— 'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्यु विशोको······ह प्रजापतिरुवाच' (७।३) 'जो आत्मा धर्माधर्म आदि रूप पापशून्य, जरारहित, मृत्युहीन, शोकरहित, क्षुधारहित, पिपासा रहित, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है, वह अन्वेष्टव्य है वह विशेष जिज्ञासितव्य है । जो उस आत्मा को शास्त्र व गुरु उपदेशानुसार खोजकर जान लेता है वह सब लोकों व सब भोगोंको प्राप्त कर लेता है ऐसा प्रजापतिने कहा' प्रजापतिके इस वाक्यको देवता और असुरोंने परम्परासे सुना । 'हम उस आत्माको जानना चाहते हैं, जिसके जाननेपर जीव सब लोकों और समस्त भोगोंको प्राप्त कर लेता है' ऐसा निश्चयकर देवताओं और असुरोंकी ओरसे प्रतिनिधिरूपसे इन्द्र और विरोचन हाथोंमें समिधाएँ लिए दोनो

देवैरत्राप्येतस्मिन्वस्तुनि विचिकित्सितं किलेति भवत एव नः श्रुतम् । त्वं च मृत्यो यद्यस्मान्न सुज्ञेयमात्मतत्त्वमात्थ कथयसि, अतः पण्डितैरप्यवेदनीयत्वाद्वक्ता चास्य धर्मस्य त्वादृक्त्वत्तुल्योऽन्यः पण्डितश्च न लभ्योऽन्विष्यमाणोऽपि। अयं तु वरो निःश्रेयसप्राप्तिहेतुः । अतो नान्यो वरस्तुल्यः सदृशोऽस्त्येतस्य कश्चिदप्यनित्यफलत्वादन्यस्य सर्वस्यैवेत्यभिप्रायः ॥ २२ ॥

एवमुक्तोऽपि पुनः प्रलोभयन्नुवाच मृत्युः—

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥२३॥

शतायुषः (शतं वर्षाणि आयूंषि येषां तान्) पुत्रपौत्रान् वृणीष्व, तथा बहून् पशून् (गवादीन्) हस्तिहिरण्यं (हस्ति च हिरण्यं च तत्) अश्वान्, भूमेः (पृथिव्याः) महत् (विस्तीर्णम्) आयतनं (साम्राज्यं) वृणीष्व, स्वयं च (स्वयमपि) यावत् शरदः (वर्षाणि) [जीवितुम्] इच्छसि, [तावत्] जीव (शरीरं धारय) ॥२३॥

हे नचिकेता ! तू सौ वर्षकी आयुवाले पुत्र, पौत्र, बहुतसे पशु, हाथी, सुवर्ण और घोड़े माँग ले, विशाल भूमण्डल भी माँग ले, स्वयं भी जितने वर्ष इच्छा हो जीवन धारण कर ॥ २३ ॥

यह बात हमने अभी आपसे ही सुनी कि इस आत्मवस्तुमें देवताओंने भी सन्देह किया था और हे मृत्यो ! आप यह भी कहते हैं कि यह आत्मतत्त्व सुगमतासे जानने योग्य नहीं है, अतः पण्डितोंद्वारा अज्ञातव्य होनेके कारण इस आत्मरूप धर्मका वक्ता आपके समान कोई अन्य पण्डित ढूंढ़े भी नहीं मिल सकता और यह वर निःश्रेयस-मोक्ष प्राप्तिका हेतु भी है, अतः इसके समान कोई अन्य वर भी नहीं है, क्योंकि अन्य सभी वर अनित्य फल वाले हैं, यह अभिप्राय है ॥ २२ ॥

नचिकेताके इस प्रकार कहनेपर भी यम उसे प्रलोभित करता हुआ पुनः बोला—

सत्यानन्दीदीपिका

प्रजापतिके पास आये, (वहीं उन्होंने बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्य वास किया) प्रजापतिने दोनोंको 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मा' इस प्रकार अक्षिपुरुषका उपदेश किया और जलपूर्ण सिकोरामें देखनेको कहा । इससे विरोचनको विपरीतज्ञान-देहमें आत्मबुद्धि हुई और इन्द्रको सन्देह उत्पन्न हुआ ॥ २१ ॥

'वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यः' इस श्रुतिवाक्यसे ऐसा अर्थ ध्वनित होता है कि यमके समान आत्मतत्त्वका अन्य वक्ता संसारमें नहीं है, परन्तु इस वाक्यका यह अभिप्राय नहीं है, क्योंकि लोकमें यमसे भिन्न और भी ब्रह्मवेत्ता हैं, किन्तु वे सन्निहित नहीं थे, यमराज सन्निहित थे इस अभिप्रायसे यह श्रुतिवाक्य है ॥ २२ ॥

शतायुषः शतं वर्षाण्यायूंषि येषां ताञ्शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व । किंच गवादिलक्षणान्बहून्पशून्हस्तिहिरण्यं हस्ती च हिरण्यं च हस्तिहिरण्यम्, अश्वांश्च किं च भूमेः पृथिव्या महद्विस्तीर्णमायतनमाश्रयं मण्डलं राज्यं वृणीष्व । किंच सर्वमप्येतदनर्थकं स्वयं चेदल्पायुरित्यत आह—स्वयं च जीव त्वं जीव धारय शरीरं समग्रेन्द्रियकलापं शरदो वर्षाणि यावदिच्छसि जीवितुम् ॥ २३ ॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥२४॥

हे नचिकेतः ! यदि एतत्तुल्यम् (उक्तवरसदृशम् अपरं कञ्चन) वरं मन्यसे [तदा तमपि वृणीष्व] [अपि च] वित्तं चिरजीविकां (चिरजीवनं) च [वृणीष्व] महाभूमौ (विस्तृतभूभागे) त्वम् एधि (राजा भव) त्वा (त्वां) कामानां (दिव्यानां मानुषाणां च काम्यमानानां) कामभाजं (कामभागिनं) करोमि ॥ २४ ॥

हे नचिकेता ! यदि तू इसीके समान कोई अन्य वर समझता हो तो उसे अथवा धन और चिरस्थायिनी जीविका माँग ले । इस विस्तृत भूमिमें वृद्धिको प्राप्त हो, मैं तुझे काम्यफलोंका भोग-भाजन किये देता हूँ ॥ २४ ॥

एतत्तुल्यमेतेन यथोपदिष्टेन सदृशमन्यमपि यदि मन्यसे वरं तमपि वृणीष्व । किंच वित्तं प्रभूतं हिरण्यरत्नादि चिरजीविकां च सह वित्तेन वृणीष्वेत्येतत् ।

सौ वर्ष हो आयु जिनकी ऐसे सौ वर्ष आयुवाले उन पुत्र, पौत्रोंको तू माँग ले, तथा गौ आदि बहुतसे पशु, हाथी और स्वर्ण तथा अश्व और पृथिवीका महान् विस्तृत आयतन-आश्रय-मण्डल-राज्य, अर्थात् साम्राज्य माँग ले । परन्तु यदि स्वयं अल्पायु हो तो ये सब व्यर्थ ही हैं, इसलिए कहते हैं—तुम स्वयं भी जितने वर्ष जीवित रहना चाहें उतने वर्ष जीवित रह, शरीर अर्थात् सशक्त, अविकल समग्र इन्द्रिय कलापको धारण कर अर्थात् इन्द्रिय पाटव आदिसे शून्य जीवन व्यर्थ है, इसलिए अपने-अपने विषय ग्रहण आदिमें समर्थ इन्दिय युक्त जीवन ही सार्थक है, इस कारण भगवान् भाष्यकारने यहाँ 'समग्र' शब्दका प्रयोग किया है ॥ २३ ॥

इस यथोपदिष्ट उपर्युक्त वरके समान यदि तू अन्य वर समझता हो तो उसे भी माँग ले, किन्तु यही नहीं, धन-प्रचुर सुवर्ण रत्न आदि तथा उस धनके साथ चिर-

सत्यानन्दीदीपिका

यहाँ 'तुल्य' शब्द अधिकका भी उपलक्षण है । द्युलोक सम्बन्धी रम्भा, उर्वशी, कल्पवृक्ष, कामधेनु आदि दिव्यभोग कहे जाते हैं और मनुष्य सम्बन्धी माला, चन्दन,

किं बहुना महत्यां भूमौ राजा नचिकेतस्त्वमेधि भव। किंचान्यत्कामानां दिव्यानां मानुषाणां च त्वा त्वां कामभाजं कामभागिनं कामार्हं करोमि सत्यसंकल्पो ह्यहं देवः॥ २४॥

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः॥२५॥

मर्त्यलोके (मृत्युलोके) ये ये कामाः (भोगाः) दुर्लभाः (दुःखेन लब्धुं शक्याः) [तान्] सर्वान् कामान् (भोग्यपदार्थान्) छन्दतः (स्वेच्छानुसारेण) प्रार्थयस्व, इमाः सरथाः सतूर्याः (रथवादित्रादिसमन्विताः) रामाः (रमयन्ति पुरुषान् इति रामाः स्त्रियः अप्सरसो वा) ईदृशाः (एवंविधा) मनुष्यैः नहि लम्भनीयाः (नैव प्रापणीयाः) हे नचिकेतः ! आभिः मत्प्रत्ताभिः (मद्दत्ताभिः) परिचारयस्व (आत्मनः परिचर्यां कारय) मरणं (मरणविषयकं प्रश्नं) मानुप्राक्षीः (नैवं पृच्छ) ॥२५॥

मृत्युलोकमें जो जो भोग्य विषय दुर्लभ हैं उन सब भोगोंको तू स्वेच्छानुसार माँग ले, यहाँ रथ वाद्य यन्त्रों सहित ये रमणियाँ हैं, ऐसी रमणियाँ मनुष्योंको प्राप्त होने योग्य नहीं होतीं, मेरे द्वारा दी हुई इन कामिनियोंसे तू अपनी परिचर्या करा। परन्तु हे नचिकेता ! तू मरण विषयक प्रश्न मत पूछ॥ २५॥

ये ये कामाः प्रार्थनीया दुर्लभाश्च मर्त्यलोके सर्वांस्तान्कामांश्छन्दतः इच्छातः प्रार्थयस्व। किंचेमा दिव्या अप्सरसो रमयन्ति पुरुषानिति रामाः

स्थायिनी जीविका (जीवन) भी माँग ले, अधिक क्या, हे नचिकेता ! इस विस्तृत भूमिमें राजा हो अर्थात् राज्यको प्राप्त हो, और तो क्या, मैं तुझे दैवी और मानुषी सभी कामनाओं-भोगोंका काम-भागी अर्थात् इच्छानुसार भोगने योग्य कर देता हूँ, क्योंकि मैं सत्य सङ्कल्प देवता हूँ॥ २४॥

इस मृत्युलोकमें जो जो प्रार्थनीय-भोग्य पदार्थ दुर्लभ हैं उन सबको छन्दतः स्वेच्छानुसार माँग ले, इनके अतिरिक्त ये रामा जो पुरुषोंके साथ रमण करती हैं ऐसी

सत्यानन्दीदीपिका

वनिता आदि मानुष भोग कहे जाते हैं। इन भोगोंको प्राप्तकर उन्हें भोगने योग्य किये देता हूँ। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि इस प्रकारके न किये कर्मोंका फल पुरुषको कैसे प्राप्त हो सकता है ? तो इसके उत्तरमें यमने 'सत्यसङ्कल्प' कहा है अर्थात् मैं देवता हूँ, अतः अप्रतिहत ज्ञान, ऐश्वर्य, तेज और बलवान् होनेसे मैं सत्यसङ्कल्प हूँ। अपने सत्य सङ्कल्पसे यह सब दे सकता हूँ॥२४॥

सह रथैर्वर्तन्त इति सरथाः सतूर्याः सवादित्रास्ताश्च न हि लम्भनीयाः प्रापणीया ईदृशा एवंविधा मनुष्यैर्मर्त्यैरस्मदादिप्रसादमन्तरेण। आभिर्मत्प्रत्ताभिर्मया दत्ताभिः परिचारिणीभिः परिचारयस्व आत्मानं पादप्रक्षालनादिशुश्रूषां कारयात्मन इत्यर्थः। नचिकेतो मरणं मरणसम्बद्धं प्रश्नं प्रेतेऽस्ति नास्तीति काकदन्तपरीक्षारूपं मानुप्राक्षीर्मैवं प्रष्टुमर्हसि ॥ २५ ॥

एवं प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता महाह्रदवदक्षोभ्य आह—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥२६॥

हे अन्तक! (मृत्यो!) श्वो भावाः (श्वः आगामिनि दिने स्थास्यति न वा भावः सत्ता येषां, तथा भूताः) मर्त्यस्य (मनुष्यस्य) यदेतत् सर्वेन्द्रियाणां तेजः (सामर्थ्यं) जरयन्ति (शिथिली कुर्वन्ति) सर्वमपि जीवितं (आयुः) अल्पमेव वाहा (अश्वरथादयः) तवैव [सन्तु] नृत्यगीते च तव [एव स्ताम्] ॥ २६ ॥

हे यमराज! ये भोग श्वोभावाः 'कल रहेंगे अथवा नहीं' इस प्रकारके हैं और मनुष्य के सब इन्द्रियोंके तेजको जीर्णकर देते हैं। यह सारा जीवन भी अल्प ही है। आपके अश्वरथादि वाहन और नृत्यगीत आपके ही पास रहें ॥ २६ ॥

ये दिव्य अप्सराएँ रथोंके साथ और वाद्ययन्त्रोंके साथ विद्यमान हैं। हम जैसे देवताओंकी कृपाके विना ऐसी रमणियाँ मरणधर्मा मनुष्योंको प्राप्त होने योग्य नहीं हैं। मेरे द्वारा दी हुई इन परिचारिकाओंसे अपनी परिचर्या अर्थात् पाद प्रक्षालनादि सेवा करा, यह अर्थ है, किन्तु हे नचिकेता! मरण अर्थात् मरणानन्तर 'आत्मा है अथवा नहीं' ऐसा काकदन्तों की परीक्षाके समान मरण सम्बन्धी प्रश्न मत पूछ! तुझे ऐसा प्रश्न पूछना उचित नहीं है ॥ २५ ॥

इस प्रकार प्रलोभित किये जानेपर नचिकेताने महान् सरोवरके समान अक्षुब्ध होकर कहा—

सत्यानन्दीदीपिका

भवबन्धनसे मुक्ति चाहनेवाले ब्रह्म जिज्ञासुका 'शान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षुः' इत्यादि श्रुतिमें इस प्रकार लक्षण किया गया है। इस आधारपर इन तीनों मन्त्रोंमें यमराज नचिकेता विवेक, वैराग्यादि साधन सम्पन्न है अथवा नहीं? निश्चय करनेके लिए ऐहिक, पारलौकिक जड़, चेतन उभयात्मक विषय भोगोंका प्रलोभन देकर परीक्षा करना चाहते हैं ॥२५॥

श्वो भविष्यन्ति न भविष्यन्ति वेति संदिह्यमान एव येषां भावो भवनं त्वयोपन्यस्तानां भोगानां ते श्वोभावाः किं च मर्त्यस्य मनुष्यस्यान्तक हे मृत्यो तदेतत्सर्वेन्द्रियाणां तेजस्तज्जरयन्त्यपक्षयन्त्यप्सरः प्रभृतयो भोगाः अनर्थायैवैते धर्मवीर्यप्रज्ञातेजोयशःप्रभृतीनां क्षपयितृत्वात्। यां चापि दीर्घजीविकां त्वं दित्ससि तत्रापि शृणु। सर्वं यद्ब्रह्मणोऽपि जीवितमायुरल्पमेव किमुतास्मदादिदीर्घजीविका। अतस्तवैव तिष्ठन्तु वाहा रथादयः तथा नृत्यगीते च ॥ २६ ॥

किंच—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥२७॥

आपके द्वारा जिन भोगोंका उल्लेख किया गया है वे तो श्वोभाव हैं—जिनका भाव—अस्तित्व 'कल रहेगा कि नहीं' इस प्रकार सन्देह युक्त हो वे श्वोभाव कहे जाते हैं, किञ्च हे अन्तक—मृत्यो ! ये अप्सरा आदि भोग तो मर्त्य-मनुष्यका जो यह इन्द्रियका तेज है उसे जीर्ण-अपक्षय कर देते हैं, अतः धर्म, वीर्य, प्रज्ञा, तेज, यश आदिका क्षय करनेवाले होनेसे अनर्थके ही हेतु हैं और जो आपको दीर्घ जीवन देनेकी इच्छा है उसके विषयमें भी सुनिये ! ब्रह्माका जो सारा जीवन-आयु है वह भी अल्प है, फिर अस्मदादिके दीर्घ जीवनकी तो बात ही क्या है ! अतः रथ आदि वाहन तथा नृत्य गीत आपके ही रहें ॥ २६ ॥

सत्यानन्दीदीपिका

दोनों प्रकारके भोग पुरुषका उपकार नहीं प्रत्युत अपकार ही करते हैं, इसी बातको नचिकेता 'श्वोभावा:' इत्यादिसे स्पष्ट करते हैं—प्रत्यक्षादि प्रमाणसे भी यही सिद्ध होता है कि अप्सरा आदि भोग विषयी पुरुषके धर्म-इष्टपूर्तादि, वीर्य-शरीर सामर्थ्य, प्रज्ञा शास्त्रावगाहन शक्ति, तेजः-प्रागल्भ्य वा त्वचागत दीप्ति विशेष यश-कीर्ति आदिका नाश करते हैं, इसलिए ये सब विषय अज्ञ पुरुषके अनर्थके हेतु हैं। यहाँ ब्रह्माशब्दसे हिरण्यगर्भका ग्रहण है। क्योंकि उसकी आयुमें सबकी आयुका अन्तर्भाव है 'चतुर्युगसहस्राणि ब्रह्मणो दिवा भवति' इत्यारभ्य 'वत्सरशतं ब्रह्ममानेन ब्रह्मणः परमायुः प्रमाणम्' 'सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः'। (गी० ८।१७) इत्यादि प्रमाणोंके आधारपर ब्रह्माकी आयु निश्चित होती है। परन्तु परिमित होनेसे वह भी अल्प ही है तो अस्मदादिकी आयुके विषयमें फिर कहना ही क्या है ? इस प्रकार नचिकेताने समस्त भोगोंमें क्षयित्व आदि दोषोंको बतलाकर अपनेको शमादि सम्पन्न तत्त्वज्ञानमें अधिकारी सिद्ध किया। 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः' (न यज्ञादि कर्मसे न प्रजासे, न धनसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है, केवल एक त्यागसे ही अमृतत्व प्राप्त होता है) यह श्रुति भी ऐसा ही कहती है ॥ २६ ॥

मनुष्यः वित्तेन (धनेन) न तर्पणीयः त्वा (त्वां) चेद् अद्राक्ष्म (दृष्टवन्तः स्मः) [तर्हि] वित्तं लप्स्यामहे (प्राप्स्यामहे) त्वं यावत् ईशिष्यसि (याम्ये पदे स्थास्यसि) तावत् जीविष्यामः [तस्मात्] वरस्तु स एव (प्राग् याचित एव) मे (मम) वरणीयः (प्रार्थनीयः) ॥ २७ ॥

मनुष्य धनसे तृप्त नहीं हो सकता । अब यदि आपका दर्शनकर लिया है तो धन तो हम पा ही लेंगे । जब तक आप याम्यपदका शासन करेंगे निश्चित हम जीवित रहेंगे, किन्तु हमारा प्रार्थनीय वर तो वही है ॥ २७ ॥

न प्रभूतेन वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः । न हि लोके वित्तलाभः कस्यचित्तृप्तिकरो दृष्टः । यदि नामास्माकं वित्ततृष्णा स्याल्लप्स्यामह इत्येतद्वित्तमद्राक्ष्म दृष्टवन्तो वयं चेत्त्वा त्वाम् । जीवितमपि तथैव । जीविष्यामो यावद्याम्ये पदे त्वमीशिष्यसीशिष्यसे प्रभुः स्याः । कथं हि मर्त्यस्त्वया समेत्याल्पधनायुर्भवेत् । वरस्तु मे वरणीयः स एव यदात्मविज्ञानम् ॥ २७ ॥

यतश्च—

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन् ।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥२८॥

[हे मृत्यो !] क्वधः स्थः (कुः पृथिवी अधः अन्तरिक्षलोकापेक्षया तस्यां तिष्ठति क्वधः स्थः) जीर्यन् मर्त्यः (जरामरणशीलः मनुष्यः) अजीर्यतां (जरारहितानाम्) अमृतानां (देवानाम्) उपेत्य (उपगम्य) प्रजानन् वर्णरतिमोदान् अभिध्यायन् (चिन्तयन्) अतिदीर्घे जीवते को रमेत ? ॥ २८ ॥

किञ्च मनुष्य अधिक धनसे भी तृप्त होने योग्य नहीं है, लोकमें धनलाभ किसीकी तृप्ति करनेवाला नहीं देखा गया है, अब जब कि हम आपको देख चुके हैं तो यदि हमें धनकी लालसा होगी तो उसे हम प्राप्त कर ही लेंगे, इसी प्रकार दीर्घ जीवन भी, जब तक आप याम्यपदके शासक-नियामक स्वामी रहेंगे तब तक हम भी जीवित रहेंगे। भला कोई भी मनुष्य आपके सामीप्यमें आकर अल्पायु एवं अल्पधन वाला कैसे हो सकता है ? किन्तु वर तो वह जो आत्मज्ञान है वही हमारा वरणीय प्रार्थनीय है ॥ २७ ॥

क्योंकि—

सत्यानन्दीदीपिका

वैराग्यकी दृढताके लिए पूर्वोक्त ये सब निन्दनीय हैं, इस बातको 'किञ्च' आदि भाष्यसे कहते हैं । मन्त्रमें 'ईशिष्यासि' यह परस्मैपद छान्दस है अन्यथा 'ईशिष्यसे' होना चाहिए ॥ २७ ॥

श्वो भविष्यन्ति न भविष्यन्ति वेति संदिह्यमान एव येषां भावो भवनं त्वयोपन्यस्तानां भोगानां ते श्वोभावाः किं च मर्त्यस्य मनुष्यस्यान्तक हे मृत्यो तदेतत्सर्वेन्द्रियाणां तेजस्तज्जरयन्त्यपक्षयन्त्यप्सरः प्रभृतयो भोगाः अनर्थायैवैते धर्मवीर्यप्रज्ञातेजोयशःप्रभृतीनां क्षपयितृत्वात्। यां चापि दीर्घजीविकां त्वं दित्ससि तत्रापि शृणु। सर्वं यद्ब्रह्मणोऽपि जीवितमायुरल्पमेव किमुतास्मदादिदीर्घजीविका। अतस्तवैव तिष्ठन्तु वाहा रथादयः तथा नृत्यगीते च॥ २६॥

किंच—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव॥२७॥

आपके द्वारा जिन भोगोंका उल्लेख किया गया है वे तो श्वोभाव हैं—जिनका भाव—अस्तित्व 'कल रहेगा कि नहीं' इस प्रकार सन्देह युक्त हो वे श्वोभाव कहे जाते हैं, किञ्च हे अन्तक—मृत्यो ! ये अप्सरा आदि भोग तो मर्त्य-मनुष्यका जो यह इन्द्रियोंका तेज है उसे जीर्ण-अपक्षय कर देते हैं, अतः धर्म, वीर्य, प्रज्ञा, तेज, यश आदिका क्षय करनेवाले होनेसे अनर्थके ही हेतु हैं और जो आपको दीर्घ जीवन देनेकी इच्छा है उसके विषयमें भी सुनिये ! ब्रह्माका जो सारा जीवन-आयु है वह भी अल्प है, फिर अस्मदादिके दीर्घ जीवनकी तो बात ही क्या है ! अतः रथ आदि वाहन तथा नृत्य-गीत आपके ही रहें॥ २६॥

सत्यानन्दीदीपिका

दोनों प्रकारके भोग पुरुषका उपकार नहीं प्रत्युत अपकार ही करते हैं, इसी बातको नचिकेता 'श्वोभावाः' इत्यादिसे स्पष्ट करते हैं—प्रत्यक्षादि प्रमाणसे भी यही सिद्ध होता है कि अप्सरा आदि भोग विषयी पुरुषके धर्म-इष्टपूर्तादि, वीर्य-शरीर सामर्थ्य, प्रज्ञा-शास्त्रावगाहन शक्ति, तेजः-प्रागल्भ्य वा त्वचागत दीप्ति विशेष यश-कीर्ति आदिका नाश करते हैं, इसलिए ये सब विषय अज्ञ पुरुषके अनर्थके हेतु हैं। यहाँ ब्रह्माशब्दसे हिरण्यगर्भका ग्रहण है। क्योंकि उसकी आयुमें सबकी आयुका अन्तर्भाव है 'चतुर्युगसहस्राणि ब्रह्मणो दिवा भवति' इत्यारभ्य 'वत्सरशतं ब्रह्ममानेन ब्रह्मणः परमायुः प्रमाणम्' 'सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः'। (गी० ८।१७) इत्यादि प्रमाणोंके आधारपर ब्रह्माकी आयु निश्चित होती है। परन्तु परिमित होनेसे वह भी अल्प ही है तो अस्मदादिकी आयुके विषयमें फिर कहना ही क्या है ? इस प्रकार नचिकेताने समस्त भोगोंमें क्षयित्व आदि दोषोंको बतलाकर अपनेको शमादि सम्पन्न तत्त्वज्ञानमें अधिकारी सिद्ध किया। 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः' (न यज्ञादि कर्मसे न प्रजासे, न धनसे अमृतत्त्वकी प्राप्ति होती है, केवल एक त्यागसे ही अमृतत्व प्राप्त होता है) यह श्रुति भी ऐसा ही कहती है॥ २६॥

मनुष्यः वित्तेन (धनेन) न तर्पणीयः त्वा (त्वां) चेद् अद्राक्ष्म (दृष्टवन्तः स्मः) [तर्हि] वित्तं लप्स्यामहे (प्राप्स्यामहे) त्वं यावत् ईशिष्यसि (याम्ये पदे स्थास्यसि) तावत् जीविष्यामः [तस्मात्] वरस्तु स एव (प्राग् याचित एव) मे (मम) वरणीयः (प्रार्थनीयः) ॥ २७ ॥

मनुष्य धनसे तृप्त नहीं हो सकता । अब यदि आपका दर्शनकर लिया है तो धन तो हम पा ही लेंगे । जब तक आप याम्यपदका शासन करेंगे निश्चित हम जीवित रहेंगे, किन्तु हमारा प्रार्थनीय वर तो वही है ॥ २७ ॥

न प्रभूतेन वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः । न हि लोके वित्तलाभः कस्यचित्तृप्तिकरो दृष्टः । यदि नामास्माकं वित्ततृष्णा स्याल्लप्स्यामह इत्येतद्वित्तमद्राक्ष्म दृष्टवन्तो वयं चेत्त्वा त्वाम् । जीवितमपि तथैव । जीविष्यामो यावद्याम्ये पदे त्वमीशिष्यसीशिष्यसे प्रभुः स्याः । कथं हि मर्त्यस्त्वया समेत्याल्पधनायुर्भवेत् । वरस्तु मे वरणीयः स एव यदात्मविज्ञानम् ॥ २७ ॥

यतश्च—

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन् ।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥२८॥

[हे मृत्यो !] क्वधः स्थः (कुः पृथिवी अधः अन्तरिक्षलोकापेक्षया तस्यां तिष्ठति क्वधः स्थः) जीर्यन् मर्त्यः (जरामरणशीलः मनुष्यः) अजीर्यतां (जरारहितानाम्) अमृतानां (देवानाम्) उपेत्य (उपगम्य) प्रजानन् वर्णरतिमोदान् अभिध्यायन् (चिन्तयन्) अतिदीर्घे जीवते को रमेत ? ॥ २८ ॥

किञ्च मनुष्य अधिक धनसे भी तृप्त होने योग्य नहीं है, लोकमें धनलाभ किसीकी तृप्ति करनेवाला नहीं देखा गया है, अब जब कि हम आपको देख चुके हैं तो यदि हमें धनकी लालसा होगी तो उसे हम प्राप्त कर ही लेंगे, इसी प्रकार दीर्घ जीवन भी, जब तक आप याम्यपदके शासक-नियामक स्वामी रहेंगे तब तक हम भी जीवित रहेंगे। भला कोई भी मनुष्य आपके सामीप्यमें आकर अल्पायु एवं अल्पधन वाला कैसे हो सकता है ? किन्तु वर तो वह जो आत्मज्ञान है वही हमारा वरणीय प्रार्थनीय है ॥ २७ ॥

क्योंकि—

सत्यानन्दीदीपिका

वैराग्यकी दृढताके लिए पूर्वोक्त ये सब निन्दनीय हैं, इस बातको 'किञ्च' आदि भाष्यसे कहते हैं । मन्त्रमें 'ईशिष्यासि' यह परस्मैपद छान्दस है अन्यथा 'ईशिष्यसे' होना चाहिए ॥ २७ ॥

जरा रहित अमरों-देवोंके समीप पहुँचकर नीचे पृथिवीपर रहनेवाला कौन जराग्र विवेकी मनुष्य होगा जो केवल शारीरक वर्णके रागसे प्राप्त (स्त्रीरमण आदि) सुखों क्षणिक अनित्य जानकर भी अतिदीर्घ जीवनमें रमण करेगा ? ॥ २८ ॥

अजीर्यतां वयोहानिमप्राप्नुवताममृतानां सकाशमुपेत्योपगम्यात्मन उत प्रयोजनान्तरं प्राप्तव्यं तेभ्यः प्रजानन्नुपलभमानः स्वयं तु जीर्यन्मर्त्यो जरामर वान्कधःस्थः कुः पृथिवी अधश्चान्तरिक्षादिलोकापेक्षया तस्यां तिष्ठतीति क स्थः सन्कथमेवमविवेकिभिः प्रार्थनीयं पुत्रवित्तहिरण्याद्यस्थिरं वृणीते ।

क तदास्थ इति वा पाठान्तरम् । अस्मिन्पक्षे चाक्षरयोजना—तेषु पु दिष्वास्थाऽऽस्थितिः तात्पर्येण वर्तनं यस्य स तदास्थः । ततोऽधिक पुरुषार्थं दुष्प्रापमपि प्रापिपयिषुः क तदास्थो भवेन्न कश्चित्तदसारज्ञस्त स्यादित्यर्थः सर्वो ह्युपर्युपर्येव बुभूषति लोकः तस्मान्न पुत्रवित्तादिलोभैः प्र भ्योऽहम् । किंचाप्सरःप्रमुखान्वर्णरतिप्रमोदाननवस्थितरूपतयाभिध्याय रूपयन्यथावदतिदीर्घे जीविते को विवेकी रमेत् ॥ २८ ॥

वयोहानिरूप जीर्णताको प्राप्त न होनेवाले अमरों-देवोंके सान्निध्यमें पहुँचकर प्राप्त होने योग्य अपने अन्य उत्कृष्ट प्रयोजन-प्राप्तव्यको जानता-प्राप्त करता भी जीर्ण होनेवाला और मरणधर्मा मनुष्य कधः स्थः-कु-पृथिवी अन्तरिक्ष आदि लो अपेक्षा अधः-नीचे होनेके कारण 'कधः' है उसपर रहनेवाला 'कधः स्थः' है, होकर भी इस प्रकार अविवेकियों द्वारा प्रार्थनीय पुत्र, धन, सुवर्ण आदि अस्थिर-अ पदार्थोंको कैसे माँगेगा । कहीं 'कधः स्थः' के स्थानमें 'क तदास्थः' ऐसा पाठान्त है । इस पक्षमें अक्षरोंकी योजना इस प्रकार है—उन पुत्र आदि पदार्थोंमें आ अवस्थिति अर्थात् तत्परता पूर्वक जो प्रवृत्ति वह 'तदास्थ' है । जो उन पुत्र आदि उत्कृष्टतर और दुष्प्राप्य पुरुषार्थ पानेको इच्छुक है वह उनमें आस्था रखनेवाल होगा ? अर्थात् उन्हें असार समझनेवाला कोई भी पुरुष उनका अर्थी-इच्छुक न सकता, यह अर्थ है, क्योंकि सभी लोग उत्तरोत्तर उन्नत ही होना चाहते हैं, अतः वित्त आदि लोभोंसे प्रलोभित नहीं हो सकता । किञ्च वर्ण गायन रति क्रीडासे होनेवाले अप्सरा आदिके सम्पर्कसे प्राप्त होनेवाले सुखोंकी अनवस्थिति रूपसे भ करता हुआ उन्हें यथावत् (मिथ्यारूपसे) समझता हुआ कौन विवेकी पुरुष अ जीवनमें प्रेम करेगा ? ॥ २८ ॥

सत्यानन्दीदीपिका

लौकिक तथा पारलौकिक विषय भोगोंके सार-असारको न जाननेवाला अ पुरुष गीत तथा क्रीडासे जन्य सुखकी इच्छा करता है । परन्तु इन क्षणभङ्गुर

अतो विहायानित्यैः कामैः प्रलोभनं यन्मया प्रार्थितम्—

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् ।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥२९॥

हे मृत्यो ! यस्मिन् (विषये) इदम् (आत्मा अस्ति न वेति) यत् (यस्मात्) विचिकित्सन्ति (सन्दिहन्ति) तत् (आत्मतत्त्वं) महति साम्पराये (परलोकविषये) नः (अस्मभ्यं) ब्रूहि (उपदिश) योऽयं वरः, गूढम् (गोप्यम्) अनुप्रविष्टः (प्राप्तः) यस्मात् (वरात्) अन्यं (वरं) नचिकेता न वृणीते ॥ २९ ॥

हे मृत्यो ! जिस परलोकके विषयमें लोग 'आत्मा है वा नहीं' ऐसा सन्देह करते हैं तथा जो महान् परलोकके विषयमें [निश्चित] है वह हमसे कहिये । यह जो महानता को प्राप्त हुआ वर है इससे अन्य कोई वर नचिकेता नहीं माँगता ॥ २९ ॥

यस्मिन्प्रेत इदं विचिकित्सनं विचिकित्सन्ति अस्ति नास्तीत्येवंप्रकारं हे मृत्यो साम्पराये परलोकविषये महति महत्प्रयोजननिमित्ते आत्मनो निर्णय-विज्ञानं यत्तद्ब्रूहि कथय नोऽस्मभ्यम् । किं बहुना योऽयं प्रकृत आत्मविषयो

अतः मुझे इन अनित्य-मिथ्याभोगोंसे प्रलोभित करना छोड़कर जिसके विषयमें मैंने प्रार्थना की है—

हे मृत्यो ! जिस परलोकगत जीवके विषयमें ऐसा सन्देह करते हैं कि 'प्रेते' मरणा-नन्तर 'आत्मा है अथवा नहीं' उस महान् प्रयोजनके निमित्तभूत साम्पराय-परलोकके सम्बन्धमें उस आत्माका जो निश्चित विज्ञान है वह हमसे कहिये । अधिक क्या ? यह आत्मविषयक प्रकृत वर है वह गूढ-गहन-दुर्विवेचनीयताको प्राप्त है उस आत्मविषयक

सत्यानन्दीदीपिका

हीन पदार्थोंसे भी अत्युत्कृष्ट परम पुरुषार्थ रूप प्रयोजन जिसे आप जैसे देवताओंके प्रसाद से प्राप्त होता हो वह इन पदार्थोंकी इच्छा कभी नहीं करेगा ।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते । आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ (गी० ५।२२) 'इन्द्रियोंसे सम्बन्धित जो भोग हैं वे निश्चित दुःखके ही हेतु हैं और उत्पत्ति विनाश शील हैं, अतः हे कौन्तेय ! विवेकी पुरुष उनमें रमण नहीं करता ।' ऐसी स्मृति भी है । इस प्रकार नचिकेताने इन तीन मन्त्रोंसे अपनेको साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकारी सिद्ध किया ॥ २८ ॥

'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके' (कठ० १।२०) इससे उपक्रमकर 'यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति' (कठ० १।२९) इस मन्त्रतक नचिकेताका आत्मविषयक प्रश्न यमराजद्वारा आत्मज्ञानके अधिकारकी परीक्षा लेनेके लिए पुत्र,

वरो गूढं गहनं दुर्विवेचनं प्राप्तोऽनुप्रविष्टः । तस्माद्वरादन्यमविवेकिभिः प्रार्थनीयमनित्यविषयं वरं नचिकेता न वृणीते मनसापीति श्रुतेर्वचनमिति ॥२९॥

शाङ्करभगवत्पाद कृत शाङ्करभाष्य प्रथमावल्ली समाप्त ॥ १-१ ॥

वरसे अन्य अविवेकी पुरुषों द्वारा प्रार्थनीय अनित्य वस्तु विषयक वर नचिकेता मनसे भी नहीं माँगता, यह श्रुत्यर्थ है ॥ २९ ॥

कठोपनिषद्के प्रथमाध्यायकी प्रथमवल्लीका 'स्वामी सत्यानन्द सरस्वती' कृत भाषानुवाद समाप्त ॥ १ ॥

सत्यानन्दीदीपिका

वित्त आदि अनेक प्रकारके पदार्थोंका प्रलोभन दिया जाना, नचिकेता द्वारा क्षयि आदि अनेक दोषोंको बतलाकर उनमें पूर्ण वैराग्य दिखाकर ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिमें अप योग्यताका परिचय दिया जाना बताया गया है। नचिकेताको निमित्तकर अन्यके अधिकार निर्णयार्थ संवाद रहित श्रुतिका वचन है अर्थात् साधन चतुष्टय सम्पन्न पु ब्रह्मज्ञान प्राप्तिमें अधिकारी है ॥ २९ ॥

कठोपनिषद्के प्रथमाध्यायकी प्रथमवल्लीकी स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत-सत्यानन्दीदीपिका समाप्त ॥ १-१ ॥

प्रथमाध्यायस्य द्वितीयावल्ली

श्रेय-प्रेय विवेक

परीक्ष्य शिष्यं विद्यायोग्यतां चावगम्याह—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषँसिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥ १

[यम आह] श्रेयः (निःश्रेयसम्) अन्यत् (पृथक्) प्रेयः उत (प्रियत पुत्रवित्तादिकाम्यमानम्) अन्यत् एव । ते उभे (श्रेयः प्रेयसी) नानार्थे (भिन्नप्रयोजने

इस प्रकार शिष्यकी परीक्षाकर उसमें विद्याकी योग्यता जान यमराजने कहा—

सत्यानन्दीदीपिका

'वैष्णवीमात्मनिष्ठां नानूचानाय नावीतरागायोपदिशेत्' स्वाध्यायविहीन 'अभिमानी और विषयोंमें रत पुरुषको आचार्य ब्रह्मात्मनिष्ठाका उपदेश न करे'। 'असमा इमामुप

पुरुषं (देहिनं) सिनीत; (बध्नीतः) तयोः (श्रेयः प्रेयसोर्मध्ये) श्रेयः (ब्रह्मविद्याम्) आददानस्य (उपासीनस्य) साधु (संसारमोचनात्मकं कल्याणं) भवति । य उ (यः पुनः) प्रेयः (पुत्रवित्तादिकामं) वृणीते (उपादत्ते) (सः) अर्थात् (परमपुरुषार्थात् हीयते) (च्युतो भवति) ॥ १ ॥

श्रेय (ब्रह्मविद्या) प्रेयसे भिन्न है और प्रेय श्रेयसे पृथक् है, ये दोनों भिन्न प्रयोजनवाले होते भी पुरुषको बांधते हैं, । उन दोनोंमेंसे श्रेयका ग्रहण करने वालेका शुभ होता है और जो प्रेयका वरण करता है, वह परमपुरुषार्थसे च्युत हो जाता है ॥ १ ॥

अन्यत्पृथगेव श्रेयो निःश्रेयसं तथान्यदुताप्येव प्रेयः प्रियतरमपि । ते प्रेयः-श्रेयसी उभे नानार्थे भिन्नप्रयोजने सती पुरुषमधिकृतं वर्णाश्रमादिविशिष्टं सिनीतो बध्नीतस्ताभ्यामात्मकर्तव्यतया प्रयुज्यते सर्वः पुरुषः । श्रेयःप्रेयसोर्ह्य-भ्युदयामृतत्वार्थी पुरुषः प्रवर्तते । अतः श्रेयःप्रेयःप्रयोजनकर्तव्यतया ताभ्यां बद्ध इत्युच्यते सर्वः पुरुषः ।

ते यद्यप्येकैकपुरुषार्थसंबन्धिनी विद्याविद्यारूपत्वाद्विरुद्धे इत्यन्यतरापरि-

---

श्रेयः-निःश्रेयस अन्यत्-भिन्न ही है तथा प्रेय-प्रियतर वस्तु भी पृथक् ही है । वे श्रेय और प्रेय दोनों नानार्थे-विभिन्न प्रयोजनवाले होनेपर भी वर्णाश्रमादि विशिष्ट अधिकृत पुरुषको बाँधते हैं । उन्हीं विद्याऽविद्यारूपी श्रेय और प्रेयके द्वारा अनेक कर्तव्यरूपसे सब नियुक्त हो जाते हैं । अभ्युदयार्थी पुरुष प्रेयमें और मोक्षार्थी पुरुष श्रेयमें प्रवृत्त होता है, अतः श्रेय और प्रेय इन दोनोंके प्रयोजनोंकी कर्तव्यता-कृति-साध्यताके कारण सब लोग उनसे बद्ध हैं ऐसा कहा जाता है । यद्यपि वे एक एक पुरुषार्थ सम्बन्धी हैं तो भी विद्या और अविद्यारूप होनेसे परस्पर विरुद्ध हैं, अतः दोनोंमें एकका परित्याग किये विना एक पुरुष द्वारा दोनोंका साथ साथ अनुष्ठान न

सत्यानन्दीदीपिका

सन्नाय सम्यक्परीक्ष्य दद्याद्वैष्णवीमात्मनिष्ठाम्' इत्यादि श्रुतिके आधारपर यमराजने नचिकेताकी भलीभाँति परीक्षाकर उसमें ब्रह्मविद्याविषयक जिज्ञासाका अनुभवकर उसे उपदेश देना आरम्भ किया—

त्रिविध दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति तथा नित्य निरतिशय आनन्दकी प्राप्तिका नाम निःश्रेयस-मोक्ष है, निःश्रेयसका साधन होनेसे ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान को भी निःश्रेयस कहा गया है । प्रियतर अभ्युदयके साधन भूत ज्योतिष्टोमादि श्रेयसे भिन्न हैं और वे अविद्याकृत हैं । ब्रह्मविद्याका प्रयोजन मोक्ष है और अविद्याका प्रयोजन जन्ममरणरूप संसार है । वे दोनों वर्णाश्रमादि विशिष्ट पुरुषको इस प्रकार बाँधते हैं—'ब्राह्मणो

त्यागेनैकेन पुरुषेण सहानुष्ठातुमशक्यत्वात् तयोर्हित्वाविद्यारूपं प्रेयः श्रेय एव केवलमाददानस्योपादानं कुर्वतः साधु शोभनं शिवं भवति। यस्त्वदूरदर्शी विमूढो हीयते वियुज्यतेऽस्मादर्थात् पुरुषार्थात् पारमार्थिकात्प्रयोजनान्नित्यात्प्रच्यवत इत्यर्थः। कोऽसौ य उ प्रेयो वृणीत उपादत्त इत्येतत् ॥ १ ॥

यद्युभे अपि कर्तुं स्वायत्ते पुरुषेण किमर्थं प्रेय एवादत्ते बाहुल्येन लोक इत्युच्यते—

हो सकनेके कारण उनमेंसे अविद्यारूप प्रेयका त्यागकर केवल श्रेयका ही ग्रहण करनेवालेका साधु-शुभ-कल्याण होता है। जो मूढ-अविवेकी दूरदर्शी नहीं है वह इस अर्थ-पुरुषार्थ अर्थात् पारमार्थिक मोक्षरूप नित्य प्रयोजनसे च्युत हो जाता है ऐसा अर्थ है। वह कौन है? जो प्रेयका वरण अर्थात् ग्रहण करता है, यह इसका तात्पर्य है ॥ १ ॥

यदि विद्याविद्यात्मक श्रेय और प्रेय इन दोनोंका करना भी पुरुषके अधीन है तो लोग अधिकतर प्रेयको ही क्यों ग्रहण करते हैं? इसपर कहा जाता है—

सत्यानन्दीदीपिका

बृहस्पतिसवेन यजेत' (ब्राह्मण बृहस्पति सव नामक याग करे) 'राजा राजसूयेन यजेत' (क्षत्रिय राजा राजसूयनामक याग करे) यह वर्ण विशिष्टका अधिकार है। 'गृहस्थः सदृशीं भार्यामुपेयात्' (गृहस्थाश्रमी होनेवाला अपने सदृश पत्नीको प्राप्त करे) यह आश्रम विशिष्टका अधिकार है। 'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत' (उत्पन्न पुत्र व काले केशोंवाला अर्थात् ४० वर्षकी आयुवाला पुरुष अग्निका आधान करे) यह वय-आयु विशिष्टका अधिकार है। 'अविचिकित्सितव्याधेरपां प्रवेशो वा' (असाध्यव्याधिवाला जलमें प्रवेश करे) यह अवस्थाविशिष्टका अधिकार है। विहित कर्मोंमें वर्णाश्रमादि विशिष्ट पुरुष अधिकारी है और ब्रह्मविद्यामें साधन चतुष्टय सम्पन्न पुरुष अधिकारी है। इस प्रकार अभ्युदयार्थी अभ्युदयके साधनोंमें और मोक्षार्थी मोक्षके साधनोंमें प्रवृत्त होता है और उनसे बंध जाता है। इस विषयमें—

यत्तु चित्तस्य सततमर्थे श्रेयसी बन्धनम्। ज्ञानोयोगः स विज्ञेयः सर्वसिद्धिकरः शिवः ॥
कर्मकर्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु। बन्धनं मनसो नित्यं कर्मयोगः स उच्यते ॥
लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥
(गी० ३।३)

इत्यादि श्रुति, स्मृतिवचन भी प्रमाण हैं। मोक्षको भी स्वर्गादिमेंसे अन्यतम माननेवाले मतका 'नित्य' शब्दसे निवारण किया गया है, क्योंकि स्वर्गादि लोक कर्मजन्य होनेसे अनित्य हैं और आत्मस्वरूप मोक्ष अजन्य होनेसे नित्य है। ज्ञान तो केवल अज्ञानकी निवृत्तिमात्र करता है, आत्मानन्दरूप मोक्ष तो नित्य सिद्ध है, अतः अभ्युदयार्थीसे मोक्षार्थी अत्युत्तम है ॥ १ ॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥२॥

श्रेयश्च प्रेयश्च [द्वे एव] मनुष्यम् एतः (प्राप्य तिष्ठतः) धीरः (विवेकी) तौ (श्रेयः प्रेयः पदार्थौ) सम्परीत्य (सम्यग् आलोच्य) विविनक्ति (पृथक्करोति) धीरः (धीमान्) प्रेयसः (पुत्रादिभ्यः) श्रेयः हि (ब्रह्मविद्याम् एव) अभिवृणीते। मन्दः (अल्पबुद्धिः) योगक्षेमाद् (योगक्षेमनिमित्तं) प्रेयः (वित्तादि) वृणीते (प्रार्थयते) ॥ २ ॥

श्रेय और प्रेय [परस्पर मिश्रितसे होकर] मनुष्यको प्राप्त होते हैं। उन दोनोंको बुद्धिमान् पुरुष भलीभाँति विचारकर अलग अलग करता है। विवेकी पुरुष प्रेयके सामने श्रेयका ही वरण करता है, किन्तु मन्दबुद्धि पुरुष योगक्षेमके लिए प्रेयका वरण करता है ॥ २ ॥

सत्यं स्वायत्ते तथापि साधनतः फलतश्च मन्दबुद्धीनां दुर्विवेकरूपे सती व्यामिश्रीभूते इव मनुष्यमेतं पुरुषमा इतः प्राप्नुतः श्रेयश्च प्रेयश्च। अतो हंस इवाम्भसः पयस्तौ श्रेयःप्रेयःपदार्थौ सम्परीत्य सम्यक्परिगम्य मनसालोच्य गुरुलाघवं विविनक्ति पृथक्करोति धीरो धीमान्। विविच्य च श्रेयो हि श्रेय एवाभिवृणीते प्रेयसोऽभ्यर्हितत्वात्। कोऽसौ ? धीरः। यस्तु मन्दोऽल्पबुद्धिः

यह बात ठीक है कि वे दोनों मनुष्यके अधीन हैं, तो भी श्रेय और प्रेय मन्दबुद्धि पुरुषोंके लिए साधन और फलकी दृष्टिसे अतिकठिनतासे पृथक् होने योग्य परस्पर मिले हुएसे ही इस मनुष्य-जीवको प्राप्त होते हैं, अतः सुतरां धीर पुरुष जलसे पृथक्कर दूधको ग्रहण करनेवाले हंसके समान श्रेय और प्रेय पदार्थोंका भली प्रकार परिगमन-मनसे आलोचनकर गौरव और लाघवका विवेक-पृथक्करण करता है। इस प्रकार श्रेयका विवेचन कर वह प्रेयकी अपेक्षा अधिक अभीष्ट होनेके कारण श्रेयका ही ग्रहण करता है।

सत्यानन्दीदीपिका

यज्ञादि कर्मानुष्ठानमें शक्त, अधिकृत आदिका ही अधिकार है। यदि धनादिकी शक्ति है तो निकृष्ट जाति आदि होनेसे यज्ञादि कर्ममें उसका अधिकार नहीं है। यदि ब्राह्मणत्व आदि उत्कृष्ट जाती है तो यज्ञादि संपादन करनेमें धन आदिका सामर्थ्य नहीं है। यदि सब प्रकारके सामर्थ्य और अधिकार आदि भी हैं तो कर्मानुष्ठानमें परिश्रम अधिक और फल अल्प-अनित्य दुःख मिश्रित है, किन्तु विद्या प्राप्त होनेपर अविद्याकी निवृत्ति होनेसे दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति एवं परमानन्दरूप नित्य सिद्ध मोक्षकी प्राप्तिमें कोई परिश्रम नहीं है, इस प्रकार गौरव और लाघवका विचार कर मोक्षार्थी श्रेयका ही सम्पादन करता है ॥ २ ॥

स विवेकासामर्थ्याद्योगक्षेमाद्योगक्षेमनिमित्तं शरीराद्युपचयरक्षणनिमित्तमित्येतत्प्रेयः पशुपुत्रादिलक्षणं वृणीते ॥ २ ॥

स त्वं प्रियान्प्रियरूपाँश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नैताँसृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥३॥

हे नचिकेतः ! स त्वं [मया प्रलोभ्यमानोऽपि] प्रियान् (प्रीतिप्रदान् पुत्रादीन्) प्रियरूपान् च (स्वभावतो रमणीयान् च) कामान् (काम्यमानान् भोगान्) अभिध्यायन् (अनित्यत्वेन चिन्तयन्) अत्यस्राक्षीः (त्यक्तवान् असि) वित्तमयीं (धनप्रायाम्) एतां (सन्निहिततरां) सृङ्कां (मालां) न अवाप्त (न स्वीकृतवानसि) बहवो मनुष्याः यस्यां मज्जन्ति (सीदन्ति) ॥ ३ ॥

हे नचिकेता ! उस तूने पुत्रवित्तादि प्रिय तथा अप्सरा आदि प्रियरूप भोगोंको उनका असारत्व चिन्तनकर त्याग दिया है। जिसमें बहुतसे मनुष्य डूब जाते हैं उस इस धनप्राया निन्दित गतिको तू प्राप्त नहीं हुआ ॥ ३ ॥

स त्वं पुनः पुनर्मया प्रलोभ्यमानोऽपि प्रियान्पुत्रादीन्प्रियरूपांश्चाप्सरःप्रभृतिलक्षणान्कामानभिध्यायंश्चिन्तयंस्तेषामनित्यत्वासारत्वादिदोषान् हे नचिकेतोऽत्यस्राक्षीरतिसृष्टवान्परित्यक्तवानस्यहो बुद्धिमत्ता तव। नैतामवाप्तवानसि सृङ्कां सृतिं कुत्सितां मूढजनप्रवृत्तां वित्तमयीं धनप्रायाम्। यस्यां सृतौ मज्जन्ति सीदन्ति बहवोऽनेके मूढा मनुष्याः ॥ ३ ॥

तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीत इत्युक्तं तत्कस्माद्यतः—

परन्तु वह कौन है ? बुद्धिमान् व्यक्ति। इसके विपरीत जो अल्प बुद्धि है वह विवेक सामर्थ्यका अभाव होनेके कारण योगक्षेमके निमित्त-शरीर आदिकी वृद्धि तथा रक्षाके लिए पशु पुत्र आदि रूप उस प्रेयका ही वरण करता है ॥ २ ॥

हे नचिकेता ! यह तेरी बुद्धिमत्ता है जो कि जिस तूने मेरे द्वारा बारम्बार प्रलोभित किये जानेपर भी पुत्रादि प्रिय तथा अप्सरादि प्रियरूप भोगोंका उनके अनित्यता-असारता आदि दोषोंका विचारकर परित्याग कर दिया, जिसमें मूढजन प्रवृत्त होते हैं उस वित्तमयी-धनप्राया (धनप्रचुर) निन्दित गतिको तू प्राप्त नहीं हुआ जिस मार्गमें अनेक मूढजन निमग्न हो रहे हैं ॥ ३ ॥

उनमें श्रेयको ग्रहण करनेवालेका शुभ होता है और जो प्रेयका वरण करता है वह स्वार्थसे भ्रष्ट हो जाता है, ऐसा जो [इस वल्लीके प्रथम मन्त्रमें] कहा गया है सो क्यों ? (यमराज कहते हैं) क्योंकि—

दूरमेते पिपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥४॥

दूरं दूरेण महतान्तरेणैते विपरीते अन्योन्यव्यावृत्तरूपे विवेकाविवेकात्मकत्वात्तमः प्रकाशाविव। विषूषी विषूच्यौ नानागती भिन्नफले संसारमोक्षहेतुत्वेनेत्येतत्। के ते इत्युच्यते या चाविद्या प्रेयोविषया विद्येति च श्रेयोविषया ज्ञाता निर्ज्ञातावगता पण्डितैः। तत्र विद्याभीप्सिनं विद्यार्थिनं नचिकेतसं त्वामहं मन्ये। कस्माद्यस्मादविद्वद्बुद्धिप्रलोभिनः कामा अप्सरःप्रभृतयो बहवोऽपि त्वा त्वां नालोलुपन्त न विच्छेदं कृतवन्तः श्रेयोमार्गादात्मोपभोगाभिवांछासंपादनेन। अतो विद्यार्थिनं श्रेयोभाजनं मन्य इत्यभिप्रायः ॥ ४ ॥

या अविद्या (प्रेयोविषया) च विद्या (श्रेयोविषया) ज्ञाता, एते दूरं (अतिशयेन) विपरीते (अन्योन्यपृथक्स्वभावे) विषूची (भिन्नफले) नचिकेतसं त्वा (त्वां) विद्याभीप्सिनं (विद्याभिकांक्षिणं) मन्ये (जानामि) [यतः] बहवः कामाः (भोगाः) [त्वां] न अलोलुपन्तः (श्रेयः पथात् न विचलितं कृतवन्तः) ॥ ४ ॥

जो विद्या और अविद्यारूपसे परिज्ञात हैं ये दोनों ही अत्यन्त विपरीत स्वभाववाली और विरुद्ध फलप्रद हैं। मैं तुझ नचिकेताको विद्याभिलाषी मानता हूँ, क्योंकि बहुत काम भोग भी तुझे प्रलोभित अर्थात् श्रेयोमार्गसे विचलित नहीं कर सके ॥ ४ ॥

अविद्याग्रस्तोंकी दुर्दशा

ये तु संसारभाजनाः—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥५॥

प्रकाश और अन्धकारके समान ये दोनों विवेक और अविवेकरूप होनेसे 'दूरम्' महान् अन्तरके साथ विपरीत हैं—परस्पर-एक दूसरेसे व्यावृत्तरूप हैं। विषूची-नानागतिवाले अर्थात् संसार और मोक्षके हेतु होनेसे विभिन्न फलवाले हैं। वे कौन हैं? इसपर कहते हैं—जो कि पण्डितोंद्वारा प्रेयको विषय करनेवाली अविद्या तथा श्रेयोविषयक विद्यारूपसे जानी गयी हैं। उनमें तुझ नचिकेताको मैं विद्याभिलाषी-विद्यार्थी मानता हूँ। क्यों? क्योंकि अविवेकियोंकी बुद्धिको प्रलोभित करनेवाले अप्सरादि बहुत-से भोग भी तुझे लुब्ध नहीं कर सके-उन्होंने तेरे हृदयमें अपने भोगकी इच्छा उत्पन्न कर तुझे श्रेय-ज्ञानमार्गसे विच्छिन्न-विच्युत नहीं किया, अतः मैं तुझे विद्यार्थी-श्रेयका पात्र-अधिकारी समझता हूँ, यह अभिप्राय है ॥ ४ ॥

किन्तु जो संसारके पत्र हैं—

अविद्यायाम् अन्तरे (मध्ये) वर्तमानाः स्वयं धीराः (धीमन्तः) पण्डितं मन्यमानाः (आत्मानं पण्डितं च अवगच्छन्तः) दन्द्रम्यमाणाः (वक्रगतयः कुटिलस्वभावाः) मूढ़ाः (अविवेकिनः) परियन्ति (परिगच्छन्ति) अन्धेन एव नीयमानाः (परिचालिताः) अन्धाः यथा ॥ ५ ॥

वे अविद्याके भीतर विद्यमान अपनेको महान् बुद्धिमान् और पण्डित-शास्त्रकुशल माननेवाले, कुटिल गतिका अवलम्बन करनेवाले मूढ़ पुरुष अन्धेसे ही परिचालित अन्धेके समान अनेक कुटिल गतियोंको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

अविद्यायामन्तरे मध्ये घनीभूत इव तमसि वर्तमाना वेष्ट्यमानाः पुत्र-पश्वादितृष्णापाशशतैः। स्वयं वयं धीराः प्रज्ञावन्तः पण्डिताः शास्त्रकुशलाश्चेति मन्यमानास्ते दन्द्रम्यमाणा अत्यर्थं कुटिलामनेकरूपां गतिमिच्छन्तो जरामरण-रोगादिदुःखैः परियन्ति परिगच्छन्ति मूढा अविवेकिनोऽन्धेनैव दृष्टिविहीनेनैव नीयमाना विषमे पथि यथा बहवोऽन्धा महान्तमनर्थमृच्छन्ति तद्वत् ॥ ५ ॥

अत एव मूढत्वात्—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ ६ ॥

वे घनीभूत अन्धकारके समान अविद्यामें विद्यमान पुत्र, पशु आदि सैकड़ों तृष्णा पाशोंसे परिवेष्टित हुए जिस प्रकार अन्धे-दृष्टि हीनपुरुषसे विषममार्गमें प्रचालित बहुतसे अन्धे महान् अनर्थको प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार 'हम बड़े धीर-बुद्धिमान् और पण्डित-शास्त्रकुशल हैं, इस प्रकार अपनेको माननेवाले वे मूढ़ अविवेकी पुरुष नाना-प्रकारकी अत्यन्त कुटिल गतियोंकी इच्छा करते हुए जरा, मरण, रोग आदि (जनित) दुःखोंसे सब ओर भटकते रहते हैं ॥ ५ ॥

अतएव मूढ़ताके कारण

सत्यानन्दीदीपिका

अविद्या जनित देहेन्द्रियादि कार्यकरण सघातमें तादात्म्याभिमान करनेवाले अविवेकी-जन संसारके योग्य माने जाते हैं। दृष्टिहीन व्यक्तिसे प्रचालित अन्धे कण्टकाकीर्ण मार्ग, गर्तादिमें गिरकर जैसे महान् क्लेशका अनुभव करते हैं, वैसे ही तत्त्वज्ञानरूप दृष्टिहीन अज्ञानीपुरुषसे प्रचालित अविवेकी जनोंकी विविध योनियोंको प्राप्तकर वही दशा होती है। इस विषयमें थे—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन जन्तवः । धराविवरमग्नानां कीटानां समतां गताः ।
यह मंत्र भी है ॥ ५ ॥

साम्परायः (परलोकसाधनविशेषः) बालं (बालसदृशम् अविवेकिनं) वित्तमोहेन (वित्तनिमित्तेनाविवेकेन) मूढम् (तमसाच्छन्नम्) अतएव प्रमाद्यन्तं (प्रमादोपेतं जनं) प्रति न भाति (प्रतीतिविषयो न भवति) अयं (दृश्यमानः) लोकः (मृत्युलोकः) अस्ति, परः (स्वर्गादिलोकः) न अस्ति, इति मानी पुनः पुनः मे (मम यमस्य) वशम् (अधीनताम्) आपद्यते (आप्नोति) ॥ ६ ॥

धनके मोहसे मूढ़ प्रमादग्रस्त अविवेकीको परलोकका साधन प्रतिभात नहीं होता 'यह लोक है परलोक नहीं है' ऐसा माननेवाला पुरुष पुनः पुनः मेरी अधीनताको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

न साम्परायः प्रतिभाति । सम्पर ईयत इति सम्परायः परलोकस्तत्प्राप्तिप्रयोजनः साधनविशेषः शास्त्रीयः साम्परायः । स च बालमविवेकिनं प्रति न प्रतिभाति न प्रकाशते नोपतिष्ठत इत्येतत् । प्रमाद्यन्तं प्रमादं कुर्वन्तं पुत्रपश्वादिप्रयोजनेष्वासक्तमनसं तथा वित्तमोहेन वित्तनिमित्तेनाविवेकेन मूढं तमसाच्छन्नं सन्तम् । अयमेव लोको योऽयं दृश्यमानः स्त्र्यन्नपानादिविशिष्टो नास्ति परोऽदृष्टो लोक इत्येवं मननशीलो मानी पुनः पुनर्जनित्वा वशं मदधीनतामापद्यते मे मृत्योर्मम । जननमरणादिलक्षणदुःखप्रबन्धारूढ एव भवतीत्यर्थः । प्रायेण ह्येवंविध एव लोकः ॥ ६ ॥

उसे साम्पराय प्रतिभासित नहीं होता । देहपातानन्तर जो सम्यग्रूपसे प्राप्त किया जाय वह सम्पराय-परलोक है, उसके प्राप्ति प्रयोजनवाला शास्त्रीय साधनविशेष साम्पराय है, वह अविवेकीके प्रति प्रकाशित नहीं होता, क्योंकि वह प्रमादी पुत्र, पशु आदि प्रयोजनोंमें आसक्त मनवाला तथा वित्तमोह-धन निमित्तक अविवेकसे मूढ़ (अज्ञानसे आवृत्त) है अर्थात् वह उसके चित्तके सम्मुख उपस्थित नहीं होता । यह जो स्त्री, अन्न पानादि विशिष्ट दृश्यमान लोक है बस यही है, इससे अन्य अदृष्ट-स्वर्गादि लोक नहीं है ऐसा माननेवाला पुरुष पुनः पुनः जन्म लेकर मुझ मृत्युकी अधीनताको प्राप्त होता है अर्थात् जन्ममरणादिरूप दुःख प्रवाहपर ही आरूढ़ रहता है प्रायः लोग ऐसे ही हैं ॥ ६ ॥

सत्यानन्दीदीपिका

प्रारब्धक्षयानन्तर जो सम्यग्रूप-परापर ब्रह्मरूप प्राप्त किया जाय वह सम्पराय है उसकी प्राप्ति प्रयोजनवाला जीवब्रह्मैक्य ज्ञान अथवा ओंकार ध्यानादि साम्पराय है, वह शास्त्रीय साधन विशेष पुत्रादिमें आसक्तमनवाले अविवेकी पुरुषको प्रकाशित नहीं होता अर्थात् पुत्र, पशु आदि विषयोंमें आसक्त अविवेकी पुरुष उस शास्त्रीय साधन विशेषका अनुष्ठान नहीं करता । इससे वह विविध यमयातनाओंको भोगता है । इस विषयमें—

आत्मज्ञानकी दुर्लभता

यस्तु श्रेयोऽर्थी सहस्रेषु कश्चिदेवात्मविद्भवति त्वद्विधो यस्मात्—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥७॥

यः (आत्मा) बहुभिः (अनेकैः जनैः) श्रवणाय अपि (श्रोतुम् अपि) न लभ्यः, शृण्वन्तः अपि बहवः (अनेके जनाः) यम् (आत्मानं) न विद्युः (न जानन्ति) अस्य (आत्मनः) वक्ता (यथावत्तत्त्वोपदेष्टा) आश्चर्यः (दुर्लभः) अस्य (आत्मनः) लब्धा, कुशलः (निपुणः) कुशलानुशिष्टः (कुशलेन आचार्येण उपदिष्टः) ज्ञाता (बोद्धा) आश्चर्यः (दुर्लभः) [अस्ति] ॥ ७ ॥

जो बहुतोंको सुननेके लिए भी प्राप्त होने योग्य नहीं है, जिसे बहुतसे सुनकर भी नहीं समझ सकते, उस आत्मतत्त्वका उपदेष्टा भी आश्चर्यरूप है, उस आत्माको प्राप्त करनेवाला भी कोई निपुण पुरुष ही होता है तथा कुशल आचार्यद्वारा उपदेश किया हुआ ज्ञाता भी आश्चर्यरूप है ॥ ७ ॥

श्रवणायापि श्रवणार्थं श्रोतुमपि यो न लभ्य आत्मा बहुभिरनेकैः शृण्वन्तोऽपि बहवोऽनेकेऽन्ये यमात्मानं न विद्युर्न विदन्त्यभागिनोऽसंस्कृतात्मानो न विजानीयुः । किंचास्य वक्तापि आश्चर्योऽद्भुतवदेवानेकेषु कश्चिदेव भवति । तथा श्रुत्वाप्यस्य आत्मनः कुशलो निपुण एवानेकेषु लब्धा कश्चिदेव भवति ।

श्रेयका अभिलाषी तेरे समान तो सहस्रोंमें कोई ही आत्मवेत्ता होता है, क्योंकि—

जो आत्मा अनेकोंको सुननेके लिए भी प्राप्त होने योग्य नहीं है तथा अन्य अनेक अभागे अशुद्ध चित्तवाले पुरुष जिस आत्माको सुनकर भी नहीं जान पाते । यही नहीं, किन्तु इस आत्मतत्त्वका उपदेष्टा भी आश्चर्य अर्थात् अद्भुत-सा अनेकोंमें कोई होता है । तथा श्रवण कर भी इस आत्माका लब्धा-प्राप्त करनेवाला तो अनेकोंमें कोई एक निपुण

सत्यानन्दीदीपिका

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि । मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् । (गी० १६।२०) ऐसी स्मृति भी है ।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥' (गी०२।२९)

'कोई इस आत्माको आश्चर्य-सा अनुभव करता है, कोई आत्माको आश्चर्यवत् कथन करता है, दूसरा उसका आश्चर्यवत् श्रवण करता है और सुनकर भी कोई उसे जान नहीं पाता ॥ यह अन्य गीतावचन भी है ॥ ७ ॥

यस्मादाश्चर्यो ज्ञाता कश्चिदेव कुशलानुशिष्टः कुशलेन निपुणेनाऽऽचार्येणानुशिष्टः सन् ॥ ७ ॥

कस्मात्—

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ८ ॥

एष (आत्मा) अवरेण (प्राकृतबुद्धिशालिना) नरेण (मनुष्येण) प्रोक्तः (उपदिष्टः) सुविज्ञेयः (सम्यग्ज्ञातुं शक्यः) न भवति । बहुधा (अस्ति नास्ति इत्याद्यनेकप्रकारेण) चिन्त्यमानः [वादिभिः], अनन्यप्रोक्ते (अपृथग्दर्शिना आचार्येण उपदिष्टे) अत्र (आत्मनि) गतिः (अस्ति नास्ति इत्याद्यात्मिका चिन्ता) नास्ति, हि (यस्मात्) अणुप्रमाणात् (अणुपरिमाणतोऽपि) अणीयान् (अतिसूक्ष्मः) अतर्क्यम् (तर्काविषयम्) ॥ ८ ॥

वादियोंद्वारा कई प्रकारसे कल्पित किया हुआ यह आत्मा साधारण बुद्धिवाले पुरुषसे उपदिष्ट होनेपर सम्यग्ज्ञान गोचर नहीं हो सकता, क्योंकि अभेददर्शी आचार्य द्वारा उपदिष्ट इस आत्मामें अस्ति नास्ति आदिरूप गति-चिन्ता नहीं है, क्योंकि यह सूक्ष्मपरिमाणवालोंसे भी सूक्ष्म और तर्काविषय-दुर्विज्ञेय है ॥ ८ ॥

न हि नरेण मनुष्येणावरेण प्रोक्तोऽवरेण हीनेन प्राकृतबुद्धिना इत्येतदुक्त एष आत्मा यं त्वं मां पृच्छसि । न हि सुष्ठु सम्यग्विज्ञेयो विज्ञातुं शक्यो

पुरुष ही होता है, क्योंकि आत्मदर्शनमें कुशल आचार्यद्वारा उपदिष्ट हुआ ज्ञाता भी आश्चर्यरूप कोई ही होता है ॥ ७ ॥

क्योंकि—

यह आत्मा तुम मुझसे जिसके विषयमें पूछते हो, किसी अवर-हीन-साधारण बुद्धिवाले मनुष्यसे उपदिष्ट होनेपर सम्यग्रूपसे जानने योग्य नहीं होता, क्योंकि वह अस्ति नास्ति कर्ता अकर्ता, शुद्ध अशुद्ध इत्यादि अनेक प्रकारसे वादियोंद्वारा चिन्तन

सत्यानन्दीदीपिका

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये । यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ (गी० ७।३) सहस्र-अनेक मनुष्योंमें तत्त्वज्ञानरूप सिद्धिके लिए कोई विरला ही यत्न करता है । उन यत्नशील सिद्धोंमें भी मुझे यथार्थरूपसे कोई भाग्यशाली ही जानता है ॥'

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मु. १।२।१२) इत्यादि श्रुतिके अनुसार श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यद्वारा उपदिष्ट आत्मा साधन चतुष्टय सम्पन्न आत्मजिज्ञासुसे ज्ञात व प्राप्त हो सकता है, किन्तु प्राकृतबुद्धिना-'प्रकृतिव

यस्माद् बहुधास्ति नास्ति कर्ताकर्ता शुद्धोऽशुद्ध इत्याद्यनेकधा चिन्त्यमानो वादिभिः । कथं पुनः सुविज्ञेय इत्युच्यते-अनन्यप्रोक्तेऽनन्येनापृथग्दर्शिनाऽऽचार्येण प्रतिपाद्यब्रह्मात्मभूतेन प्रोक्त उक्त आत्मनि गतिरनेकधास्ति नास्तीत्यादिलक्षणा चिन्ता गतिरत्रास्मिन्नात्मनि नास्ति न विद्यते सर्वविकल्पगतिप्रत्यस्तमितत्वादात्मनः । अथवा स्वात्मभूतेऽनन्यस्मिन्नात्मनि प्रोक्तेऽनन्यप्रोक्ते गतिरत्रान्यावगतिर्नास्ति ज्ञेयस्यान्यस्याभावात् । ज्ञानस्य ह्येषा परा निष्ठा यदात्मैकत्वविज्ञानम् । अतोऽवगन्तव्याभावान्न गतिरत्रावशिष्यते। संसारगतिर्वात्र नास्त्यनन्य आत्मनि प्रोक्ते नान्तरीयकत्वात्तद्विज्ञानफलस्य मोक्षस्य । अथवा प्रोच्यमानब्रह्मात्मभूतेनाचार्येण प्रोक्त आत्मन्यगतिरनवबोधोऽपरिज्ञानमत्र नास्ति । भवत्येवावगतिस्तद्विषया श्रोतुस्तदस्म्यहमित्याचार्यस्येवेत्यर्थः । एवं सुविज्ञेय आत्माऽऽगम-

---

किया जाता है । तो पुनः यह सम्यग्रूपसे विज्ञेय कैसे हो सकता है ? इसपर कहते हैं—अनन्यप्रोक्ते—वेदान्त प्रतिपाद्य ब्रह्मस्वरूपको आत्मरूपसे प्राप्त हुए अपृथग्दर्शी-अभेददर्शी आचार्यद्वारा कहे हुए इस आत्मामें अस्ति नास्ति (है वा नहीं) इत्यादि रूप गति-चिन्ता नहीं है, क्योंकि आत्मा समस्त विकल्पोंकी गतिसे रहित है ।

अथवा ['गतिरत्र नास्ति' इसका यह अर्थ भी हो सकता है] अनन्यप्रोक्ते-अपने ब्रह्मात्मभूत अनन्य आत्माका आचार्यद्वारा उपदेश किये जानेपर अन्यगति-अन्य अवगति अर्थात् अन्य वस्तुका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि अन्य ज्ञेयवस्तुका अभाव है । जो आत्माका एकत्व विज्ञान है यही ज्ञानकी पराकाष्ठा है । अतः जानने योग्य वस्तुका अभाव होनेसे पुनः यहाँ कोई अन्यगति नहीं रहती । अथवा अनन्य-स्वरूपभूत आत्माका उपदेश किये जानेपर संसारकी गति नहीं रहती, क्योंकि उस आत्मविज्ञानका मोक्षरूप फल तो उसके अनन्तर अवश्यंभावी है ।

अथवा आगे कहे जानेवाले ब्रह्मात्मभूत आचार्यद्वारा उपदिष्ट इस आत्मामें पुनः अगति-अनवबोध-अपरिज्ञान नहीं रहता अर्थात् आचार्यके समान उस श्रोताको भी यह आत्मविषयक ज्ञान हो ही जाता है कि 'वह ब्रह्म मैं हूँ' यह अर्थ है । इस प्रकार शास्त्रज्ञ आचार्यद्वारा अनन्यरूपसे उपदिष्ट आत्मा सुविज्ञेय होता है, नहीं तो अर्थात्

सत्यानन्दीदीपिका

आगतेषु पश्वादिष्वभिमानरूपा बुद्धिर्यस्य सः प्राकृतबुद्धिस्तेन' 'प्रकृतिसे प्राप्त पशु आदि की सी बुद्धिवाला अर्थात् देहात्मबुद्धिवाला मनुष्य प्रकृतबुद्धि कहलाता है, उससे उपदिष्ट आत्मा सुज्ञेय नहीं होता' चार्वाककेसिवा आस्तिक सांख्यादि मतोंमें देहपातानन्तर आत्माका अस्तित्व माना गया है, किन्तु उसके स्वरूपमें कुछ विप्रतिपत्तियां हैं । जैसे-सांख्यमतमें आत्मा केवल भोक्ता है, नैयायिक मतमें कर्ता भोक्ता है, कोई आत्माको अणु

वताऽऽचार्येणानन्यतया प्रोक्तः। इतरथा ह्यणीयानणुप्रमाणादपि सम्पद्यत आत्मा। अतर्क्यमतर्क्यः स्वबुद्धयाभ्यूहेन केवलेन तर्केण, तर्क्यमाणेऽणु-परिमाणे केनचित्स्थापित आत्मनि ततो ह्यणुतरमन्योऽभ्यूहति ततोऽप्यन्योऽणुत-ममिति न हि कुतर्कस्य निष्ठा कचिद्विद्यते ॥ ८ ॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥९॥

हे प्रेष्ठ ! (प्रियतम !) त्वं यां (मतिम्) आपः (प्राप्तवानसि) एषा मतिः तर्केण (स्वबुद्धिपरिकल्पितेन) न आपनेया (न प्राप्या वा न हातव्या) अन्येन (ब्रह्म-णोऽनन्योऽहमिति जानता आचार्येण) प्रोक्ता (तदुपदेशजन्या) सुज्ञानाय (सम्यग्ज्ञानाय) [भवति] हे नचिकेतः ! सत्यधृतिः असि, बत (अनुकम्पायां) त्वादृक् (त्वत्तुल्यः) प्रष्टा (पृच्छकः) नो (अस्मभ्यं) भूयात् (भवेत्) ॥ ९ ॥

हे प्रियतम ! सम्यग्ज्ञानके लिए शुष्क तार्किकसे भिन्न शास्त्रज्ञ आचार्यद्वारा उप-दिष्ट-प्रतिपादित यह बुद्धि जिसे तू प्राप्त हुआ है, शास्त्र असम्मत तर्कसे प्राप्त होने योग्य नहीं है। अहो, तू सत्यधारणावाला है। हे नचिकेता ! हमें तेरे समान प्रश्नकर्ता प्राप्त हो ॥ ९ ॥

भेददर्शी आचार्यद्वारा उपदिष्ट तो यह अणुप्रमाण वस्तुओंसे भी अणु-सूक्ष्म हो जाता है अर्थात् ज्ञात नहीं होता। अपनी बुद्धिसे उत्पन्न-आरोपित केवल तर्कसे भी इसका यथार्थज्ञान नहीं हो सकता। यदि कोई पुरुष तर्कद्वारा तर्कित अणुपरिमाण आत्माको स्थापित भी करे तो अन्य उसे तर्कसे अणुतर, उससे भी अन्य उसे तर्कसे अणुतम स्थापित कर देगा, क्योंकि कुतर्ककी स्थिति कहीं भी नहीं है ॥ ८ ॥

सत्यानन्दीदीपिका

कोई मध्यम परिमाण, कोई विभु, कोई जड़, कोई चेतन, कोई उभयात्मक आदि मानते हैं। चार्वाक जीवित देहको ही आत्मा कहते हैं। इत्यादि कल्पनाएँ ब्रह्मभूत आत्मामें नहीं हैं, क्योंकि आत्मा निर्विशेष है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार आत्माका ज्ञान होनेपर अन्य वस्तुका ज्ञान नहीं रहता, क्योंकि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' 'नाऽन्योऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्मात्मैकत्वसे अतिरिक्त ज्ञेयवस्तुका अभाव प्रतिपादन करती हैं। अथवा अभेददर्शी गुरुद्वारा ब्रह्मात्मैकका उपदेश किये जानेपर आत्मामें पुनः संसारका सत्यरूपसे अवभास नहीं होता, यदि होता है तो वह भी मिथ्यारूपसे। 'श्रोत-व्यो मन्तव्यः' इस प्रकार यद्यपि श्रुतिमें श्रुति सहाय तर्कका स्थान है तो भी श्रुति असहाय तर्कको कुतर्क कहा गया है, 'तर्काप्रतिष्ठानाद्' (ब्र० सू० २।१।११) इस सूत्रमें

अतोऽनन्यप्रोक्त आत्मन्युत्पन्ना येयमागमप्रतिपाद्यात्ममतिर्नैषा तर्केण स्वबुद्ध्यभ्यूहमात्रेणापनेया न प्रापणीयेत्यर्थः। नापनेतव्या वा न हातव्या तार्किको ह्यनागमज्ञः स्वबुद्धिपरिकल्पितं यत्किञ्चिदेव कथयति। अत एव च येयमागमप्रभूता मतिरन्येनैवागमाभिज्ञेनाऽऽचार्येणैव तार्किकात्प्रोक्ता सती सुज्ञानाय भवति हे प्रेष्ठ प्रियतम। का पुनः सा तर्कागम्या मतिरित्युच्यते—यां त्वं मतिं मद्वरप्रदानेनाऽऽपः प्राप्तवानसि। सत्याऽवितथविषया धृतिर्यस्य तव स त्वं सत्यधृतिर्बतासीत्यनुकम्पयन्नाह मृत्युर्नचिकेतसं वक्ष्यमाणविज्ञानस्तुतये। त्वादृक्त्वत्तुल्यो नः अस्मभ्यं भूयाद्भवताद्भवत्वन्यः पुत्रः शिष्यो वा प्रष्टा, कीदृग्यादृक्त्वं हे नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥

पुनरपि तुष्ट आह—

अतः अभेददर्शी आचार्यद्वारा उपदिष्ट आत्मामें उत्पन्न जो यह शास्त्र प्रतिपाद्य आत्मविषयक मति है, वह तर्कसे-अपनी बुद्धिके ऊहापोह मात्रसे प्राप्य होने योग्य नहीं है यह अर्थ है, अथवा यह आत्मविषयक बुद्धि तर्क शक्तिसे आपनेतव्य-बाधयोग्य नहीं है, क्योंकि तार्किक तो ब्रह्मात्मैकत्व प्रतिपादक शास्त्रसे अनभिज्ञ होता है, वह अपनी बुद्धि से परिकल्पित जो कुछ चाहे कहता रहता है। अतः हे प्रेष्ठ-प्रियतम! यह जो शास्त्र-जनित बुद्धि है वह यदि तार्किकसे भिन्न ब्रह्मात्मैकत्व प्रतिपादक शास्त्रके ज्ञाता आचार्य द्वारा उपदिष्ट हो तो सम्यग्ज्ञानके-ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानके लिए होती है। अच्छा तो फिर तर्कसे प्राप्त न होने योग्य वह बुद्धि-ज्ञान कौन-सी है? इसपर कहते हैं—जिस मतिको तूने मेरे वर प्रदानसे प्राप्त किया है। सत्य-यथार्थ पदार्थ विषयक धृति धारणा है जिसकी ऐसा तू सत्यधृति है। इस प्रकार अनुकम्पा करते हुए यमराज आगे कहे जाने वाले विज्ञानकी स्तुतिके लिए नचिकेतासे कहते हैं—हे नचिकेता! हमें तेरे समान प्रश्न-कर्ता और भी पुत्र वा शिष्य हो जैसा कि तू प्रश्न करनेवाला है ॥ ९ ॥

नचिकेतासे प्रसन्न हुए यमराजने फिर कहा—

सत्यानन्दीदीपिका

बादरायण महर्षिने श्रुति असहाय तर्ककी अप्रतिष्ठा कही है, अतएव असत् तर्कका अविषय होनेसे आत्माको अतर्क्य कहा गया है ॥ ८ ॥

'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति, तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि श्रुति जनित आत्मैकत्व ज्ञान केवल बुद्धि जन्य तर्कसे प्राप्य नहीं है अथवा किसी तर्क द्वारा बाध्य भी नहीं है, अतः अभेददर्शी आचार्यद्वारा उपदिष्ट तत्त्वज्ञान ही आत्मसा-क्षात्कारका हेतु है 'तर्काप्रतिष्ठानात्' (ब्र० सू० २।१।११) इस सूत्रसे भी श्रुति असहाय तर्क अप्रतिष्ठित कहा गया है ॥ ९ ॥

जानाम्यहँ शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ।१०।

शेवधिः (निधिः-कर्मफललक्षणः) अनित्यम् (अनित्यः) इति अहं जानामि । हि (यतः) ध्रुवं (शाश्वतं तत् -ब्रह्म) अध्रुवैः (अनित्यैः) न हि प्राप्यते, ततः मया अनित्यैर्द्रव्यैः (चयनसाधनैः) नाचिकेतः अग्निः (इष्टकाचितिस्थोऽग्निः) चितः (सम्पादितः) [तेन] नित्यम् (आपेक्षिकनित्यं याम्यपदं) प्राप्तवानस्मि ॥ १० ॥

मैं यह जानता हूँ कि कर्मफलरूप निधि अनित्य है, क्योंकि अनित्य साधानोंद्वारा वह नित्य (ब्रह्मात्मा) प्राप्त नहीं किया जा सकता । तब मेरेद्वारा नाचिकेत अग्निका चयन किया गया, उन अनित्यद्रव्योंसे ही मैं [आपेक्षिक] नित्य (याम्यपद) को प्राप्त हुआ हूँ ॥ १० ॥

जानाम्यहं शेवधिर्निधिः कर्मफललक्षणो निधिरिव प्रार्थ्यत इति । असावनित्यमनित्य इति जानामि । न हि यस्मादनित्यैः अध्रुवैर्नित्यं ध्रुवं तत्प्राप्यते परमात्माख्यः शेवधिः । यस्त्वनित्यसुखात्मकः शेवधिः स एवानित्यैर्द्रव्यैः

कर्मफलरूप निधि ही 'शेवधि' है वह निधिके समान प्रार्थित है, यह अनित्य है ऐसा मैं जानता हूँ, क्योंकि इन अनित्य यज्ञादि साधनोंसे वह परमात्मा नामक नित्य-शाश्वत निधि प्राप्त नहीं की जा सकती । जो अनित्य सुखात्मक निधि है वह अनित्य

सत्यानन्दीदीपिका

स्वर्गादिके साधनभूत यज्ञादि कर्म अत्यधिक प्रयत्न साध्य हैं, ऐसा मैं जानता हूँ, परन्तु तुमने उस कर्मका फल भी ग्रहण नहीं किया, इससे तुम मुझसे भी अधिक प्रज्ञ हो, इस प्रकार सन्तुष्ट होकर यमने फिर कहा—

यद्यपि 'शेवधि' शब्द निधिका पर्याय है तो भी कामना विषयत्व गुण योगसे 'शेवधि' शब्द कर्मफलमें भी विद्यमान है 'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते नास्त्यकृतकृतेन' (छा० ८।१।६) (जैसे हस्त पाद आदि क्रियाओंसे संपादित यह लोक-पदार्थ क्षीण हो जाता है वैसे ही पुण्यकर्मसे सम्पादित स्वर्गादि लोक भी नष्ट हो जाता है, अतः अकृत-नित्य यज्ञादि-कर्मसे सम्पादित नहीं होता) 'एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति' (जो प्रेय पदार्थको श्रेय मानकर प्रसन्न होते हैं वे मूढ पुनरपि जरा मृत्युको प्राप्त होते हैं) 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गी० ९२१) (पुण्यक्षीण हो जानेपर पुनः मृत्यलोकको प्राप्त होते हैं) 'गतागतं कामकामा लभन्ते' (गी० ९।२१) (विषयभोगोंकी कामनावाले गमनागमनको प्राप्त करते हैं) इत्यादि श्रुति स्मृति कर्मफल स्वर्ग आदि सुखको अनित्य कहती हैं । अतः

प्राप्यते । हि यतस्ततस्तस्मान्मया जानतापि नित्यमनित्यसाधनैर्न प्राप्यत इति नाचिकेतश्चितोऽग्निः । अनित्यैर्द्रव्यैः पश्वादिभिः स्वर्गसुखसाधनभूतोऽग्निर्निर्वर्तित इत्यर्थः । तेनाहमधिकारापन्नो नित्यं याम्यं स्थानं स्वर्गाख्यं नित्यमापेक्षिकं प्राप्तवानस्मि ॥ १० ॥

नचिकेताके त्यागकी प्रशंसा

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम् ।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ११

हे नचिकेताः ! [त्वं] धृत्या (धैर्येण) धीरः (धीमान् सन्) कामस्य (अभिलषितार्थस्य) आप्तिं (समाप्तिं) जगतः प्रतिष्ठाम् (आश्रयं) क्रतोः (यज्ञस्य वा उपासनायाः) अनन्त्यम् (अनन्तफलम्) अभयस्य पारं (परां निष्ठां) स्तोममहत् (स्तोमं-स्तुत्यं, महत्-अणिमाद्यैश्वर्यम्) उरुगायं (प्रशस्तं) प्रतिष्ठां (आत्मनः उत्तमां गतिं च) दृष्ट्वा (विचार्य) अत्यस्राक्षीः (त्यक्तवानसि) ॥ ११ ॥

हे नचिकेता ! तूने बुद्धिमान् होकर भोगोंकी समाप्ति—अवधि, जगत्की प्रतिष्ठा, यज्ञफलके अनन्तत्व, अभयकी परानिष्ठा, स्तुत्य और महती अणिमाद्यैश्वर्य युक्त विस्तीर्ण गति तथा प्रतिष्ठाको देखकर-विचारकर भी उके धैर्य पूर्वक त्याग दिया ॥ ११ ॥

त्वं तु कामस्याप्तिं समाप्तिम्, अत्रैवेहैव सर्वे कामाः परिसमाप्ताः, जगतः साध्यात्माधिभूताधिदैवादेः प्रतिष्ठामाश्रयं सर्वात्मकत्वात्, क्रतोः फलं हैरण्यगर्भं

द्रव्योंसे प्राप्त की जाती है, क्योंकि अनित्य साधनोंसे नित्यकी प्राप्ति नहीं होती ऐसा जानते हुए भी मैंने नाचिकेत अग्निका चयन किया अर्थात् पशु आदि अनित्य द्रव्योंसे स्वर्ग सुखके साधन भूत अग्निका सम्पादन किया, यह अर्थ है । उसीसे मैं अधिकार संपन्न हो आपेक्षिक नित्य स्वर्ग नामक याम्यस्थानको प्राप्त हुआ हूँ ॥ १० ॥

हे नचिकेता ! तूने तो बुद्धिमान् हो भोगोंकी प्राप्ति-समाप्तिको, क्योंकि इस [हिरण्यगर्भ] में ही सम्पूर्ण कामनाएँ समाप्त होती हैं तथा सर्वात्मक होनेके कारण

सत्यानन्दीदीपिका

कर्म और उपासनाका फल जन्य होनेसे अनित्य है, इसलिए यज्ञादि कर्मजन्य याम्यपद भी अनित्य है, उसमें नित्यशब्दका प्रयोग अस्मदादिलोकोंकी अपेक्षा अधिक काल स्थायी होनेसे किया गया है । वस्तुतः ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानसे ही आत्मसाक्षात्काररूप नित्य फल प्राप्त होता है ॥ १० ॥

हिरण्यगर्भपदसे भी विरक्त पुरुषका ही ब्रह्मविद्यामें अधिकार है, इसको दिखलानेके लिए यमराज नचिकेताकी 'त्वम्' आदिसे प्रशंसा करते हैं । समष्टि सूक्ष्म सृष्टिके

पदमनन्त्यमानन्त्यम्, अभयस्य च पारं परां निष्ठाम्, स्तोमं स्तुत्यं महदणिमाद्यैश्वर्याद्यनेकगुणसंहतं स्तोमं च तन्महच्च निरतिशयत्वात्स्तोममहत्, उरुगायं विस्तीर्णां गतिम्, प्रतिष्ठां स्थितिमात्मनोऽनुत्तमामपि दृष्ट्वा धृत्या धैर्येण धीरो धीमान्सन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः परमेवाकांक्षन्नतिसृष्टवानसि सर्वमेतत्संसारभोगजातम्। अहो बतानुत्तमगुणोऽसि ॥ ११ ॥

यं त्वं ज्ञातुमिच्छस्यात्मानम्—

आत्मज्ञानका फल

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥१२॥

दुर्दर्शं (दुःखेन द्रष्टुं शक्यं) गूढम् (अनभिव्यक्तस्वरूपम्) अनुप्रविष्टं (सर्वजगदन्तः प्रविष्टं) गुहाहितं (बुद्धौ स्थितं) गह्वरेष्ठं (विषमस्थाने स्थितं) पुराणं

अध्यात्म, अधिभूत एवं अधिदैवादि रूप जगत्की प्रतिष्ठा-आश्रयको, यज्ञ-उपासनाके अनन्त्य-आनन्त्य अर्थात् अनन्तफल हिरण्यगर्भपदको, अभयके पार-परानिष्ठाको, स्तोम-स्तुत्य तथा महत्- अणिमादि ऐश्वर्य आदि अनेक गुणोंसे युक्त, इस प्रकार जो स्तोम और महत् भी है ऐसे सर्वोत्कृष्ट होनेके कारण स्तोम महत् उरुगाय-विस्तीर्णगति तथा प्रतिष्ठा अपनी उत्तम स्थितिको देखकर भी धैर्य पूर्वक त्याग दिया। केवल परवस्तु-आत्मवस्तुकी आकांक्षा करते हुए इस सम्पूर्ण सांसारिक भोग समूहका परित्याग कर दिया। अहो! तुम अत्युत्तम गुण सम्पन्न हो ॥ ११ ॥

सत्यानन्दीदीपिका

अभिमानीको अथवा समष्टि सूक्ष्म उपाधिवालेको हिरण्यगर्भ कहा जाता है। 'स प्राणम-सृजत' (प्रश्न० ५।४) 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' (कारण मायोपाधिक ईश्वरने पहले हिरण्यगर्भको उत्पन्न किया) इत्यादि श्रुतियाँ हिरण्यगर्भको प्रथम शरीरी और स्थूल जगत्का स्रष्टा कहती हैं। इससे हिरण्यगर्भ अध्यात्म, अधिभूत तथा अधिदैव संपूर्ण जगत्का कारण होनेसे सर्वात्मक है, क्योंकि कार्य कारणात्मक होता है। हिरण्यगर्भकी प्राप्तिसे सभी कामनाओंकी प्राप्ति-समाप्ति कही जाती है। हिरण्यगर्भकी उपासनासे हिरण्यगर्भपदकी प्राप्तिरूप फल भी आपेक्षिक अनन्त कहा गया है। 'अनेककालावस्थायि-हिरण्यगर्भपदं गम्यत इति व्युत्पत्त्या विस्तीर्णगतिरित्युच्यते' 'अत्यधिक काल स्थायी हिरण्यगर्भपदको प्राप्त किया जाता है इस व्युत्पत्तिसे विस्तीर्ण गति कही जाती है' हिरण्यगर्भपद पर्यन्त समस्त भोग्य समुदायको अनित्य, असारदृष्टिसे त्याग करने वाला नचिकेता वस्तुतः प्रशंसनीय है। ब्रह्मविद्याके लिए ऐसा ही अधिकारी अपेक्षित है ॥११॥

(सनातनं) तं देवं अध्यात्मयोगाधिगमेन मत्वा (ज्ञात्वा) धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ १२ ॥

कठिनतासे दीख पड़नेवाले, अनभिव्यक्तस्वरूप, सर्वान्तः प्रविष्ट, बुद्धिरूपी गुहामें स्थित, विषम स्थानमें स्थित, पुरातन, प्रकाशरूप उस परमात्मदेवको अध्यात्मयोगद्वारा जानकर धीर-बुद्धिमान् पुरुष हर्ष और शोकका त्याग करता है ॥ १२ ॥

तं दुर्दर्शं दुःखेन दर्शनमस्येति दुर्दर्शोऽतिसूक्ष्मत्वात्, गूढं गहनमनुप्रविष्टं प्राकृतविषयविकारविज्ञानैः प्रच्छन्नमित्येतत्, गुहाहितं गुहायां बुद्धौ स्थितं तत्रोपलभ्यमानत्वात्, गह्वरेष्ठं गह्वरे विषमेऽनेकानर्थसंकटे तिष्ठतीति गह्वरेष्ठम् । यत एवं गूढमनुप्रविष्टो गुहाहितश्चातो गह्वरेष्ठः; अतो दुर्दर्शः । तं पुराणं पुरातनमध्यात्मयोगाधिगमेन विषयेभ्यः प्रतिसंहृत्य चेतस आत्मनि समाधानमध्यात्मयोगस्तस्याधिगमस्तेन मत्वा देवमात्मानं धीरो हर्षशोकावात्मन उत्कर्षापकर्षयोः अभावाज्जहाति ॥ १२ ॥

जिस आत्माको तुम जानना चाहते हो, अतिसूक्ष्म होनेके कारण दुर्दर्श-जो कठिनतासे दर्शन होने योग्य हो उसे दुर्दर्श कहते हैं। यह गूढ़-गहन स्थानमें अनुप्रविष्ट अर्थात् शब्दादि प्राकृत विषय विकाररूप विज्ञानोंसे आवृत्त है। गुहा-बुद्धिमें स्थित है, क्योंकि वहीं उपलब्ध होता है। तथा गह्वरेष्ठ-गह्वर-विषम-अनेक अनर्थोंसे सङ्कुलित स्थान-शरीरादिरूप उपाधिमें रहता है, इससे वह गह्वरेष्ठ है, क्योंकि आत्मा इस प्रकारके गूढ़ स्थानमें अनुप्रविष्ट है और बुद्धिमें स्थित है, अतः वह गह्वरेष्ठ है, गह्वरेष्ठ होनेसे ही दुर्दर्श है। उस पुराण-पुरातन सनातन प्रकाशरूप आत्मदेवको अध्यात्मयोगाधिगमेन-चित्तको विषयोंसे हटाकर आत्मामें स्थिर कर देना अध्यात्मयोग है उसकी प्राप्तिसे-उसके द्वारा जानकर-साक्षात्कारकर धीर पुरुष आत्मामें उत्कर्ष, उपकर्षका अभाव होनेके कारण हर्ष शोकका परित्याग कर देता है ॥ १२ ॥

सत्यानन्दीदीपिका

इस मन्त्रमें आत्मज्ञानका फल कहा जा रहा है—जो तुमने देहसे भिन्न आत्माके विषयमें प्रश्न किया है उसीका परमार्थ स्वरूपज्ञान कारण सहित संसारका निवर्तक तथा परमानन्द प्राप्तिका साधन है इससे भिन्न श्रेयका साधन नहीं है। इस प्रकार यमराज पृष्ट वस्तुकी प्रशंसाद्वारा प्रश्नकर्ता नचिकेताकी भी 'यं त्वं ज्ञातुमिच्छसि इत्यादिसे प्रशंसा करते हैं। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इत्यादि श्रुतियोंमें भी मोक्षका साधन तत्त्वज्ञान ही कहा गया है। 'कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' (गी० ७।३) 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते' (गी० ७।१९) (मुझे तत्त्वतः कोई विरला ही जानता है, बहुत जन्मोंके अनन्तर अन्तिम जन्ममें ज्ञानवान् होकर

किं च—

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।
स मोदते मोदनीयँ हि लब्ध्वा विवृतँ सद्म नचिकेतसं मन्ये ।१३।

मर्त्यः (मनुष्यः) एतत् (ब्रह्म) श्रुत्वा, धर्म्यम्, अणुं (सूक्ष्मं) प्रवृह्य (देहादेः पृथक्कृत्य) संपरिगृह्य (आत्मभावेन सम्यक् उपादाय) स एनं मोदनीयम् (आत्मानम्) आप्य (प्राप्य) हि (निश्चयेन) लब्ध्वा (साक्षात्कृत्य) मोदते 'नचिकेतसं त्वां प्रति सद्म (ब्रह्मस्थानं-ब्रह्मस्वरूपं) विवृतं (अपावृतद्वारं) मन्ये-जानामि ॥ १३ ॥

मनुष्य इस आत्मतत्त्वको सुनकर और उसका भली प्रकार ग्रहण कर धर्म्य सूक्ष्म-आत्माको देहादिसंघातसे पृथक्कर तथा सम्यग्रूपसे प्राप्त कर और इस मोदनीयकी उपलब्धिकर अति आनन्दित हो जाता है । [तुझ] नचिकेताके लिए ब्रह्मस्थानको मैं खुले द्वारवाला मानता-समझता हूँ अर्थात् हे नचिकेता ! मेरे विचारसे तेरे लिए मोक्षका द्वार खुला हुआ है ॥ १३ ॥

एतदात्मतत्त्वं यदहं वक्ष्यामि तच्छ्रुत्वाचार्यप्रसादात्सम्यगात्मभावेन परिगृह्योपादाय मर्त्यो मरणधर्मा धर्मादनपेतं धर्म्यं प्रवृह्योद्यम्य पृथक्कृत्य

इसके सिवा

यह आत्मतत्त्व जिसको मैं अब कहूँगा, उसे सुनकर आचार्यकी कृपासे भली-भाँति आत्मभावसे ग्रहणकर, मरणधर्मा मनुष्य इस धर्म्य-धर्म विशिष्ट आत्माको शरीरादिसे

सत्यानन्दीदीपिका

मुझे-मुझ ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त होता है) इस प्रकारकी स्मृति भी आत्मदर्शनको अत्यन्ता-यास साध्य कहती है । क्योंकि 'आत्मन आकाशः संभूतः' परम सूक्ष्म आकाशका भी कारण होनेसे आत्मा अतिसूक्ष्म है अतः दुर्दर्श है । गूढ़, अनुप्रविष्टत्व तथा गुहाहितत्व गह्वरेष्ठत्वमें हेतु हैं और गह्वरेष्ठत्व दुर्दर्शमें । यद्यपि आत्मा व्यापक है तो भी संस्कृतबुद्धि ही आत्मदर्शनका स्थान कहा गया है । अपने आत्माके उत्कर्षसे सुखादि अन्यके उत्कर्षसे दुःखादि, अपने अपकर्षसे दुःखादि और परापकर्षसे सुखादि इनका आत्मवित्में अभाव है, क्योंकि इनका सम्बन्ध अन्तःकरणसे है आत्मासे नहीं । 'असङ्गो न हि सज्जते' 'आत्मा असङ्ग है, अतः वह अनात्मपदार्थके किसी धर्मसे लिप्त नहीं होता' इत्यादि श्रुति आत्माको असङ्ग कहती हैं । अतः 'तरति शोकमात्मवित्' (आत्मवित् शोकसे मुक्त हो जाता है) यहां धीर शब्दसे श्रवण, मनन विशिष्ट पुरुषका ग्रहण है, अध्यात्मयोग शब्दसे निदिध्यासन कहा गया है, इस प्रकार वह पुरुष श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा आत्मसाक्षात्कार कर हर्ष और शोकसे मुक्त हो जाता है ॥ १२ ॥

आत्मतत्त्वज्ञानसे संसारके बीजभूत अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर ब्रह्मवित् पुरुषको

शरीरादेरणुं सूक्ष्ममेतमात्मानाप्य प्राप्य स मर्त्यो विद्वान्मोदते मोदनीयं हर्षणीयमात्मानं लब्ध्वा। तदेतदेवंविधं ब्रह्मसद्म भवनं नचिकेतसं त्वां प्रत्यपावृतद्वारं विवृतमभिमुखीभूतं मन्ये मोक्षार्हं त्वां मन्य इत्यभिप्रायः॥ १३॥

यद्यहं योग्यः प्रसन्नश्चासि भगवन्मां प्रति—

सर्वातीतवस्तुविषयक प्रश्न

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥१४॥

धर्मात् अन्यत्र, अधर्मात् अन्यत्र (धर्माधर्मातीतमिति) अस्मात्कृताकृतात् (कृतं-कार्यम्-अकृतं कारणम् अस्मात्) अन्यत्र (उभयविलक्षणं) भूतात् (अतीतकालात्) भव्यात् (भविष्यत:) च (वर्तमानात्) अन्यत्र (कालत्रयविलक्षणं) तत् (प्रसिद्धं) यत् (वस्तु) पश्यसि (जानासि) तद्वद (मह्यमिति शेषः)॥ १४॥

जो धर्मसे पृथक्, अधर्मसे पृथक् तथा इस कार्य कारण रूप प्रपञ्चसे पृथक्

प्रवृह्य-उद्यम्य-पृथक्कर तथा इस अणु सूक्ष्म आत्माको प्राप्तकर और मोदनीय-हर्ष योग्य आत्माको उपलब्धकर आनन्दित हो जाता है। इस प्रकारके तुझ नचिकेताके प्रति मैं ब्रह्मैव सद्म ब्रह्मसद्म अर्थात् ब्रह्म भवन-स्वरूपको खुले द्वारवाला-अभिमुख हुआ मानता हूँ अभिप्राय यह है कि तुझे मोक्षके योग्य समझता हूँ॥ १३॥

नचिकेता—भगवन्! यदि मैं योग्य हूँ और आप मुझपर प्रसन्न हैं तो—

सत्यानन्दीदीपिका

संसारमें पुनः पहलेके समान सत्यत्व प्रतीत नहीं होता, प्रत्युत मिथ्यातत्व निश्चय हो जाता है, जैसे स्फटिक मणिमें जपाकुसुमकी लालिमा। ऐसा दिखाकर आगे आनन्दकी प्राप्तिका साधन 'किञ्च' इत्यादिसे कहते हैं। 'वक्ष्यामि' इसे 'न जायते' इस आगेके १८ वें मन्त्रसे कहेंगे, 'आचार्यवान् पुरुषो वेद, समित्पाणिः स गुरुमेवाभिगच्छेत् श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्, आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति, तद्विद्धि प्रणिपातेन' (गी० ४।३४) इत्यादि श्रुति स्मृतिसे यही सिद्ध होता है कि ब्रह्मविद् आचार्य द्वारा उपदिष्ट तत्त्वज्ञानसे आत्मसाक्षात्कार होता है अन्यथा नहीं। 'मनुष्यानधिकरोति शास्त्रम्' इस वचनसे प्राय: मनुष्योंको ही शास्त्र अधिकृत करता है, इस अभिप्रायसे मन्त्रमें 'मर्त्यः' शब्दका ग्रहण है। देहादिसे पृथक्करणका अर्थ निदिध्यासन है और प्राप्तिका अर्थ साक्षात्कार। इससे विद्वान् निरतिशय आनन्द स्वरूप ब्रह्मको प्राप्त होता है। इस प्रकार यमराज वस्तुकी प्रशंसा कर 'तदेतदेवंविधं' इत्यादिसे प्रष्टाकी प्रशंसा करते हैं॥ १३॥

है और जो भूत, भविष्यत् एवं वर्तमानसे भी अन्य है, ऐसा आप जिसे जानते हैं वह मुझसे कहिये ॥ १४ ॥

अन्यत्र धर्माच्छास्त्रीयाद्धर्मानुष्ठानात्तत्फलात्तत्कारकेभ्यश्च पृथग्भूतमित्यर्थः। तथान्यत्राधर्मात्तथान्यत्रास्मात्कृताकृतात्, कृतं कार्यमकृतं कारणमस्मादन्यत्र। किं चान्यत्र भूताच्चातिक्रान्तात्कालाद्भव्याच्च भविष्यतश्च तथा वर्तमानात्; कालत्रयेण यन्न परिच्छिद्यत इत्यर्थः। यदीदृशं वस्तु सर्वव्यवहारगोचरातीतं पश्यसि जानासि तद्वद मह्यम् ॥ १४ ॥

इत्येवं पृष्टवते मृत्युरुवाच पृष्टं वस्तु विशेषणान्तरं च विवक्षन्—

ओङ्कारोपदेश

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदँसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥१५॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति (प्रतिपादयन्ति) सर्वाणि तपांसि यद् वदन्ति (यत् प्राप्तये विहितानि) यत् इच्छन्तः, ब्रह्मचर्यं चरन्ति (आचरन्ति) तत् पदं ते (तुभ्यं) संग्रहेण (संक्षेपेण) ब्रवीमि ओम्, इति एतत् (तत् पदम् ओम् इत्युच्यते) ॥ १५ ॥

सारे वेद जिस पदका प्रतिपादन करते हैं, सब तपोंको जिसकी प्राप्तिके साधक कहते हैं जिसकी इच्छा करते हुए मुमुक्षुजन ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस पदको मैं तुमसे संक्षेपसे कहता हूँ। 'ॐ' यही वह पद है ॥ १५ ॥

इस प्रकार पूछनेवाले नचिकेतासे पूछी वस्तु तथा उसके अन्य विशेषण-ओंकार उपासनाको बतलानेकी इच्छा करते यमराजने कहा—

जो धर्मसे शास्त्रीय धर्मानुष्ठान, उसके फल तथा कर्ता करणादि कारकोंसे अन्यत्र-पृथग्भूत है जो अधर्मसे भिन्न है अर्थात् विहिताकरण तथा शास्त्रनिषिद्ध ब्रह्महत्यादि, उसके साधन, फल एवं कारकादिसे भिन्न है और कृत-कार्य, अकृत-कारण इस प्रकार इस कार्य कारण (स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्च) से भी भिन्न है। किञ्च भूत भविष्यत् तथा वर्तमानकालसे भिन्न है अर्थात् जो तीनों कालोंसे परिच्छिन्न नहीं है, ऐसी जिस सम्पूर्ण व्यवहार विषयसे अतीत वस्तुको आप जानते हैं वह मुझसे कहिये ॥ १४ ॥

सत्यानन्दीदीपिका

'येयं प्रेते' (कठ० १।१।२०) इस प्रकार पूर्व पूछे गये देहातिरिक्त आत्माका यथार्थ ज्ञान ही मोक्षका साधन है, तो वही मुझसे कहिये 'यद्यहं योग्यः' इत्यादिसे नचिकेताने यमराजसे कहा। जैसे ब्रह्मभिन्न अनात्मपदार्थ देश: काल तथा वस्तुसे परिच्छिन्न है वैसे ब्रह्मात्मा नहीं है, क्योंकि ब्रह्म तो अखण्ड एक रस चिन्मय विभु है ॥ १४ ॥

सर्वे वेदा यत्पदं पदनीयं गमनीयमविभागेनामनन्ति प्रतिपादयन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति यत्प्राप्त्यर्थानीत्यर्थः। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं गुरुकुलवासलक्षणमन्यद्वा ब्रह्मप्राप्त्यर्थं चरन्ति तत्ते तुभ्यं पदं यज्ज्ञातुमिच्छसि संग्रहेण संक्षेपतो ब्रवीमि। ओमित्येतत्। तदेतत्पदं यद्बुभुत्सितं त्वया। यदेतदोमित्योंशब्दवाच्यमोंशब्दप्रतीकं च ॥ १५ ॥

अतः—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥१६॥

एतत् (ओंकाररूपम्) अक्षरम् एव ब्रह्म, एतदेव ही अक्षरं परम् एतदेव हि अक्षरं ज्ञात्वा यः (अधिकारी) यत् इच्छति (कामयते) तस्य तत् भवति ॥ १६ ॥

सारे वेद जिस पद-पदनीय-गमनीय-प्राप्य स्थानका अविभाग-एक रूपसे आमनन्ति-प्रतिपादन करते हैं, सब तपोंको भी जिसके लिए कहते हैं अर्थात् सब तप जिसकी प्राप्तिके लिए हैं, जिसकी इच्छा करते हुए गुरुकुलवासरूप ब्रह्मचर्य अथवा ब्रह्मप्राप्तिमें उपयुक्त कोई अन्य साधन करते हैं उस पदका जिसे तू जानना चाहता है मैं संक्षेपसे कहता हूँ 'ॐ' यही वह पद है, यह जो 'ॐ' अर्थात् जो ॐ शब्दका वाच्य और ॐ ही जिसका प्रतीक है वही यह पद है जिसे तू जानना चाहता है ॥ १५ ॥

इसलिए—

सत्यानन्दीदीपिका

११८० शाखारूप चारों वेदोंके एक देश शिरोभाग उपनिषद्का यहाँ वेद शब्दसे ग्रहण है, वे ही मोक्षके साक्षात्साधन ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानका प्रतिपादन करते हैं। जैसे कि 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (उस उपनिषद् प्रतिपाद्य पुरुषको मैं पूछता हूँ) 'अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि' (ब्रह्मविदितसे भिन्न है और अविदितसे भी भिन्न है, 'सन्मात्रमसदन्यत्' ब्रह्ममात्रमसन्नहि' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्', आत्मैवेदं सर्वम्, सर्वंखल्विदं ब्रह्म, इत्यादि उपनिषद् वाक्य उस प्राप्य स्थानका प्रतिपादन करते हैं। तप-कर्म चित्त शुद्धि द्वारा ज्ञानोत्पत्तिमें सहायक हैं। जिस शब्दके उच्चारणमें जो अर्थ स्फुरित होता है वह उसका वाच्य है, समाहित चित्तवालेको ओंकारके उच्चारणमें जो साक्षीकी प्रतीति होती है उस ओंकारका आलम्बनकर ओंकार वाच्य सत्त्व प्रधान मायावच्छिन्न ओंकारोपाधिक 'ब्रह्म अहंमस्मि' ऐसा ध्यान करे। यदि उसमें समर्थ न हो तो ओंकारमें ब्रह्मदृष्टि करे। इस प्रकार ओंकारद्वारा वाच्य वाचकके अभेदरूपसे तथा प्रतीकरूपमे उपासना कही गयी है ॥ १५ ॥

यह ॐ (ओंकार) अक्षर ही ब्रह्म है यह अक्षर ही परब्रह्म है। इस अक्षरको ही जानकर जो जिस प्राप्यकी इच्छा करता है वही उसको प्राप्त हो जाता है ॥ १६ ॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्मापरमेतद्ध्येवाक्षरं परं च। तयोर्हि प्रतीकमेतदक्षरम्, एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वोपास्यब्रह्मेति यो यदिच्छति परमपरं वा तस्य तद्भवति। परं चेज्ज्ञातव्यमपरं चेत्प्राप्तव्यम् ॥ १६ ॥

यत एवमतः—

एतदालम्बनँ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥१७॥

एतत् (ओंकाररूपम्) आलम्बनं श्रेष्ठं (प्रशस्यतरम्) एतदालम्बनं परम्, एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते पूज्यो भवति) ॥ १७ ॥

यह श्रेष्ठ आलम्बन है यही पर आलम्बन है इसी आलम्बनको जानकर पुरुष ब्रह्मलोकमें पूज्य होता है ॥ १७ ॥

एतदालम्बनमेतद्ब्रह्मप्राप्त्यालम्बनानां श्रेष्ठं प्रशस्यतमम्, एतदालम्बनं

यह ॐ अक्षर ही अपर ब्रह्म है और यह अक्षर ही परब्रह्म है। यह अक्षर उन दोनों का प्रतीक है। इस अक्षरको ही 'यही उपास्य ब्रह्म है' ऐसा जानकर जो पर अथवा अपर जिस ब्रह्मकी इच्छा करता है उसे वही प्राप्त हो जाता है। यदि परब्रह्म उपास्य है तो वह ज्ञानद्वारा ज्ञातव्य है यदि अपर ब्रह्म है तो उपासना द्वारा प्राप्तव्य है ॥१६॥

यह ओंकाररूप आलम्बन ब्रह्म प्राप्तिके लिए (गायत्री आदि) सभी आलम्बनोंमें से श्रेष्ठ अधिक प्रशंसनीय है। पर और अपर ब्रह्म विषयक होनेसे यह आलम्बन पर

क्योंकि ऐसी बात है, इससे

सत्यानन्दीदीपिका

तत्त्वज्ञानमें अनधिकृतोंके लिए ओंकारकी उपासना कहकर और उसका फल दिखलाकर 'अतः' शब्दसे ओंकारकी स्तुति करते हैं—

यह ॐ अक्षर ब्रह्मका वाचक और प्रतीक है। वाच्य वाचकके अभेद अभिप्रायसे यह ॐ अक्षर अपर-विराड् हिरण्यगर्भ एवं ईश्वरात्मक ब्रह्म प्रणव स्थूलादि भागत्रयोपाधिकारणक होनेसे आत्मस्वरूप ज्ञान रहित अज्ञानियोंको प्रतीकरूपसे उपास्य है। ब्रह्मज्ञोंके लिए यही अक्षर परब्रह्म है। वह ब्रह्म प्रणवकी अर्धमात्राके असङ्गरूपसे उस अक्षरके भागत्रयके अपवादके अधिष्ठानरूपसे ब्रह्मज्ञोंके लिए आलम्बनरूप है, अतः प्रणवोपासक यदि सगुण ब्रह्मकी इच्छा करे तो सगुणगति-सालोक्य सारूप्य, सायुज्य एवं सामीप्य गतिको, यदि निर्गुण ब्रह्मकी इच्छा हो तो वह क्रममुक्तिसे निर्गुण ब्रह्मगतिको प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

परमपरं च परापरब्रह्मविषयत्वात्। एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते परस्मिन्ब्रह्मणि। अपरस्मिंश्च ब्रह्मभूतो ब्रह्मवदुपास्यो भवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

अन्यत्र धर्मादित्यादिना पृष्टस्यात्मनोऽशेषविशेषरहितस्याऽऽलम्बनत्वेन प्रतीकत्वेन चोङ्कारो निर्दिष्टः; अपरस्य च ब्रह्मणो मन्दमध्यमप्रतिपत्तॄन्प्रति। अथेदानीं तस्योङ्कारालम्बनस्यात्मनः साक्षात्स्वरूपनिर्दिधारयिषयेदमुच्यते—

आत्मस्वरूपनिरूपण

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥१८॥

न जायते (न उत्पद्यते) म्रियते वा (न म्रियते) अयं (तत्त्वज्ञः) कुतश्चित् (कारणान्तरात्) न बभूव कश्चित् (अर्थान्तरभूतः सन्) न बभूव । पुराणः (सनातनः) अजो नित्यः (जन्ममरणरहितः) शाश्वतः (अविकारश्च) अयम् (आत्मा) शरीरे (आत्मन उपाधिभूते देहे) हन्यमाने (सति, स्वयं) न हन्यते (न हिंस्यते) विपश्चित् (आत्मा) ॥ १८ ॥

यह विपश्चित् मेधावी आत्मा न उत्पन्न होता है न मरता है, यह न तो अन्य कारणसे ही उत्पन्न हुआ है और न स्वतः ही कुछ (अर्थान्तररूपसे) हुआ है । यह अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है तथा शरीरके मारे जानेपर भी नहीं मरता ॥१८॥

न जायते नोत्पद्यते म्रियते चोत्पत्तिमतो वस्तुनोऽनित्यस्यानेकविक्रियास्ता सामाद्यन्ते जन्मविनाशलक्षणे विक्रिये इहात्मनि प्रतिषिध्येते प्रथमं सर्वविक्रिया

और अपर रूप है । इस आलम्बनको जानकर साधक ब्रह्मलोक-परब्रह्ममें स्थित होकर महानता को प्राप्त होता है तथा अपर सगुण ब्रह्ममें ब्रह्मत्वको प्राप्त होकर ब्रह्माके समान उपास्य होता है, यह अर्थ है ॥ १७ ॥

उपर्युक्त 'अन्यत्र धर्मात्' इत्यादि मन्त्रसे नचिकेता द्वारा पूछे गये सर्व विशेष (जाति गुणादि विशेष) रहित आत्माके तथा मन्द मध्यम उपासकोंके लिए अपर ब्रह्मके आलम्बनरूपसे तथा प्रतीकरूपसे ओंकारका निर्देश किया गया । अब ओंकार आलम्बन-उपाधिवाले उस आत्माके स्वरूपका साक्षात् (उपाधिरहित) निर्धारणकी इच्छासे यह कहा जाता है—

यह आत्मा न उत्पन्न होता है और न मरता ही है । उत्पन्न होनेवाली अनित्य वस्तुके अनेक विकार होते हैं । आत्मामें उन सब विक्रियाओंका प्रतिषेध करनेके लिए

सत्यानन्दीदीपिका

मन्त्र में परशब्द अपरका भी उपलक्षण है 'ब्रह्मैव लोक ब्रह्मलोकः' ! उसमें वह ब्रह्मज्ञ पूज्य होता है ॥ १७ ॥

प्रतिषेधार्थं न जायते म्रियते वेति। विपश्चिन्मेधावी अविपरिलुप्तचैतन्यस्वभावात्। किं च नायमात्मा कुतश्चित्कारणान्तराद्बभूव। स्वस्माच्चात्मनो न बभूव कश्चिदर्थान्तरभूतः। अतोऽयमात्माजो नित्यः शाश्वतोऽपक्षयविवर्जितः। यो ह्यशाश्वतः सोऽपक्षीयते, अयं तु शाश्वतोऽत एव पुराणः पुरापि नव एवेति। यो ह्यवयवोपचयद्वारेणाभिनिर्वर्त्यते स इदानीं नवो यथा कुम्भादिः। तद्विपरीतस्त्वात्मा पुराणो वृद्धिविवर्जित इत्यर्थः। यत एवमतो न हन्यते न हिंस्यते हन्यमाने शस्त्रादिभिः शरीरे। तत्स्थोऽप्याकाशवदेव ॥ १८॥

'न जायते म्रियते वा' ऐसा कहकर सबसे पहले उनमेंसे जन्म और विनाशरूप आदि और अन्तकी विक्रियाओंका प्रतिषेध किया जाता है। कभी लुप्त न होनेवाले चैतन्यरूप स्वभावके कारण आत्मा विपश्चित्-मेधावी है। तथा यह आत्मा कहींसे-किसी अन्य कारणसे उत्पन्न नहीं होता और न अर्थान्तररूपसे स्वयं अपनेसे ही हुआ है, अतः यह आत्मा अज नित्य तथा शाश्वत—अपक्षय रहित है, क्योंकि जो अशाश्वत होता है वही क्षीण होता है, परन्तु यह तो शाश्वत है अतएव पुराण भी है अर्थात् पराचीन होकर भी नवीन है। जो पदार्थ अवयवोंके उपचय-वृद्धिसे निष्पन्न किया जाता है वह इस समय नवीन है ऐसा कहा जाता है जैसे घट आदि। परन्तु आत्मा तो उससे विपरीत स्वभाववाला है—पुराण वृद्धिरहित है, ऐसा अर्थ है, क्योंकि ऐसा है, अतः शस्त्रादि द्वारा शरीरके मारे जानेपर भी वह नहीं मरता-उसकी हिंसा नहीं होती अर्थात् शरीरमें स्थित हुआ वह आकाशके समान निर्लिप्त ही है ॥ १८ ॥

सत्यानन्दीदीपिका

आत्मस्वरूपका वर्णन—'अस्ति जायते वर्द्धते विपरिणमत अपक्षीयते विनश्यति' (निरुक्त) (है, जन्मता है, बढ़ता है, परिणामको प्राप्त होता है, अपक्षय और नष्ट होता है) इस प्रकार शरीर आदिमें छः भाव विकार होते हैं। इनमेंसे जन्ममरण आदि और अन्तकी विक्रियाओंका निषेध किये जानेपर 'कटाहकुण्डलन्याय'से मध्यकी चारों विक्रियाओंका भी स्वतः निषेध हो जाता है, आत्माको चैतन्यस्वरूप कहकर जड़ देहादि आत्मा है वा आत्मा जड़ है इस मत का खण्डन किया है। आत्मा -अज होनेके कारण किसी भी कारणसे उत्पन्न नहीं होता। अव्यय एवं विभु होनेसे अर्थान्तररूप हो स्वयं अपनेसे भी उत्पन्न नहीं होता। शरीरका छेदन करनेपर जैसे शरीरस्थ गर्भका नाश होता है, वैसे शरीरस्थ आत्माका भी छेदन हो सकता है ? इसका 'तत्स्थोऽप्याकाशवद्' इससे समाधन करते हैं, जैसे शरीरस्थ आकाश शस्त्रादिसे प्रभावित नहीं होता वैसे आत्मा भी शरीरस्थ हो शस्त्रादिसे प्रभावित नहीं होता, क्योंकि वह असङ्ग है, 'असङ्गो न हि सज्जते' ऐसी श्रुति है।



हन्ता चेन्मन्यते हन्तुँ हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायँ हन्ति न हन्यते ॥१९॥

हन्ता (हननकारी जनः) चेत् (यदि) हन्तुं (हनिष्यामि एनम् इति) मन्यते (चिन्तयति) हतः (तथा) चेत्, हतम् (आत्मानं अन्येन विनाशितम्) मन्यते [तर्हि] तौ उभौ न विजानीतः । अयम् (आत्मा) न हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

यदि हननकर्ता-मारनेवाला आत्माको मारनेका विचार करता है और मारा जानेवाला उसे मारा हुआ समझता है तो वे दोनों ही उसे नहीं जानते, क्योंकि यह न तो मरता है और न मारा जाता है ॥ १९ ॥

एवं भूतमप्यात्मानं शरीरमात्रात्मदृष्टिर्हन्ता चेद्यदि मन्यते चिन्तयति हन्तुं हनिष्याम्येनमिति योऽप्यन्यो हतः सोऽपि चेन्मन्यते हतमात्मानं हतोऽहमित्युभावपि तौ न विजानीतः स्वमात्मानं यतो नायं हन्ति अविक्रियत्वादात्मनस्तथा न हन्यत आकाशवदविक्रियत्वादेव । अतोऽनात्मज्ञविषय एव धर्माधर्मादिलक्षणः संसारो न ब्रह्मज्ञस्य । श्रुतिप्रामाण्यान्न्यायाच्च धर्माधर्माद्यनुपपत्तेः ॥ १९ ॥

कथं पुनरात्मानं जानाति इत्युच्यते—

एवंभूत-असङ्ग स्वभाव आत्माको भी देहमात्रमें ही आत्मदृष्टि रखनेवाला हनन कर्ता पुरुष यदि मारनेका विचार करता है यह सोचता है कि मैं इसे मारूँगा तथा अन्य मारा जानेवाला भी यह समझकर कि मैं मारा गया हूँ अपने (आत्मा) को मारा गया मानता है, तो वे दोनों ही अपने आत्माको नहीं जानते, क्योंकि आत्मा अविकारी है, इसलिए यह मार नहीं सकता और आकाशके समान अविकारी होनेसे ही मारा भी नहीं जा सकता, अतः धर्माधर्मादिरूप संसार अनात्मज्ञ विषयक ही है ब्रह्मज्ञ विषयक नहीं, क्योंकि श्रुति प्रमाण और युक्तिसे भी ब्रह्मज्ञ-आत्मामें धर्माधर्मादि नहीं हो सकते ॥१९ ॥

तो पुनः मुमुक्षु आत्माको किस प्रकार जानता है ? इसपर कहते हैं—

सत्यानन्दीदीपिका

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः । न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च । नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥
(गीता २-२०,२३-२४) इत्यादि स्मृति भी श्रुत्यनुसारी अर्थ कहती हैं ॥ १८ ॥

धर्माधर्मादिरूप हन्तृहननादि संसार अज्ञानीके लिए है, 'इति नु कामयमानः' ऐसी श्रुति है । 'अथाकामयमानः' यह श्रुति ब्रह्मज्ञमें संसारका अभाव कहती है जिसके अज्ञान

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥२०॥

अणोः (सूक्ष्मात् परमाणुप्रभृतेः) अणीयान् (सूक्ष्मतरः) महतः (महत्परिमाणात्) महीयान् (महत्तरः) आत्मा (पूर्वोक्तलक्षणः) अस्य जन्तोः (प्राणिनः) गुहायां (हृदये) निहितः (स्थितः) अक्रतुः (अकामः-वीतरागः) धातुप्रसादात् (इन्द्रियप्रसादात्) आत्मनः, तं (पूर्वोक्तं) महिमानं पश्यति (अयमहमस्मीति साक्षात् विजानाति [ततो] वीतशोको भवति ॥ २० ॥

अणुसे भी अणुतर और महान्से भी महत्तर आत्मा प्राणीकी हृदयरूप गुहामें स्थित है, निष्काम पुरुष अपनी इन्द्रियोंके प्रसादसे आत्माकी उस महिमाको देखता है ततः शोक रहित हो जाता है ॥ २० ॥

अणोः सूक्ष्मादणीयाञ्श्यामाकादेरणुतरः । महतो महत्परिमाणान्महीयान्महत्तरःपृथिव्यादेः, अणु महद्वा यदस्ति लोके वस्तु तत्तेनैवात्मना नित्येनाऽऽत्मवत्संभवति । तदात्मना विनिर्मुक्तमसत्संपद्यते । तस्मादसावेवात्माणोरणीयान्महतो महीयान्सर्वनामरूपवस्तूपाधिकत्वात् । स चात्मास्य जन्तोर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य प्राणिजातस्य गुहायां हृदये निहित आत्मभूतः स्थित इत्यर्थः ।

आत्मा अणुसे भी अणुतर श्यामकादि सूक्ष्म पदार्थों ['एष मे आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा' ऐसी श्रुति है] से भी सूक्ष्मतर तथा महान्से भी महत्तर अर्थात् पृथ्वी आदि महत्परिणामवाले [पृथिव्या ज्यायान्, यह श्रुति है] पदार्थोंसे भी महत्तर है । संसारमें अणु अथवा महत् परिणामवाली जो कुछ वस्तु है वह उस नित्यस्वरूप आत्मासे ही आत्मवान्-स्वरूप सत्ता युक्त हो सकती है उस आत्मासे परित्यक्त हो तो असत् [गगनकुसुमवत्] सत्ताशून्य हो जाती है अर्थात् नामरूपात्मक यह सभी वस्तु आत्माकी

सत्यानन्दीदीपिका

से प्रवृत्ति होती है उसके ही ज्ञानसे वह पुनः नहीं होती, यथा शुक्तिके अज्ञानसे कल्पित रजतमें रजतार्थी की प्रवृत्ति होती है परन्तु शुक्तिके ज्ञानसे वह पुनः नहीं होती, वैसे धर्माधर्मादिरूप संसारके विषयमें भी समझना चाहिए, यह न्याय-युक्ति भी है । 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' (गीता २।५४) 'स्थितप्रज्ञकी भाषा क्या है अथवा क्या लक्षण है ।' विवेकी सर्वदा मुक्तः कुर्वतो नास्ति कर्तृता । अलेपवादमाश्रित्य श्रीकृष्णजनकौ यथा ॥ कर्तृत्वभोक्तृत्वादि धर्मः स्वाज्ञानपरिकल्पितः । स्वाज्ञवन्न स्पृशेत् स्वज्ञं तद्दृष्ट्या तदसंभवत् ॥ आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय । (गीता० ४।४१) इत्यादि स्मृति भी आत्मज्ञमें संसारका अभाव कहती हैं ॥ १९ ॥

तदात्मानं दर्शनश्रवणमननविज्ञानलिङ्गमक्रतुरकामो दृष्टादृष्टबाह्यविषयोपरतबुद्धिरित्यर्थः । यदा चैवं तदा मनआदीनि करणानि धातवः शरीरस्य धारणात्प्रसीदन्तीत्येषां धातूनां प्रसादादात्मनो महिमानं कर्मनिमित्तवृद्धिक्षयरहितं पश्यत्ययमहमस्मीति साक्षाद्विजानाति । ततो वीतशोको भवति ॥ २० ॥

अन्यथा दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा कामिभिः प्राकृतपुरुषैः, यस्मात्—

उपाधि है, अतः नामरूपात्मक सर्व वस्तु उपाधिवाला होनेसे यह आत्मा अणुसे अणुतर और महान्से महत्तर है । वह आत्मा जन्योः ब्रह्मसे स्तम्बपर्यन्त इस सम्पूर्ण प्राणी समुदायकी गुहा-हृदयमें निहित अन्तरात्मरूपसे स्थित है, यह अर्थ है ।

तात्पर्य यह है कि दर्शनार्थ श्रवण, मनन और निदिध्यासनरूप साधनवाला अक्रतु-निष्काम दृष्ट-ऐहिक और अदृष्ट-पारलौकिक बाह्य विषयोंसे उपरत बुद्धिवाला पुरुष उस आत्माको देखता है जिस समय ऐसी स्थिति होती है उसी समय मन आदि इन्द्रियाँ जो कि शरीरको धारण करनेके कारण धातु कहलाती हैं, प्रसन्न होती हैं सो इन धातुओं-इन्द्रियोंके प्रसादसे वह अपने आत्माकी कर्म निमित्तक वृद्धि और क्षय रहित महिमाको देखता है अर्थात् साक्षात् जानता है कि 'यह मैं हूँ' तो इससे वह शोक रहित हो जाता है ॥ २० ॥

अन्यथा सकामी प्राकृत जनोंके लिए यह आत्मा दुर्विज्ञेय है, क्योंकि—

सत्यानन्दीदीपिका

अकामत्वादि साधनान्तर विधानके लिए 'कथं पुनः' इस वाक्यको अवतरित करते हैं 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' इस श्रुतिवाक्यसे एक आत्मामें अणुत्व और महत्त्व परस्पर विरुद्ध धर्मोंका कथन यद्यपि असंगत है तथापि अणुत्व आदि अध्यासका अधिष्ठान होनेके कारण उसमें कल्पित-औपाधिक अणुत्वादि व्यवहार होता है, जैसे भ्रमस्थलमें रजतत्व अध्यासके अधिष्ठानभूत शुक्तिमें 'इदं रजतम्' ऐसा कल्पित व्यवहार होता है । आत्मा सबका अधिष्ठान होनेसे सर्वात्मक है । 'तम्' आदिसे प्रत्यग्ब्रह्म दर्शनका साधन कहते हैं । आत्मदर्शनमें केवल कामरहित्व हेतु नहीं है किन्तु आत्मदर्शनके उद्देश्यसे विहित जो 'आत्मा वा अरे श्रोतव्यः' इस प्रकार श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन भी ब्रह्मदर्शनके प्रतिबन्धक-सन्देह और विपरीतभावनाके निरासद्वारा साधन कहे गये हैं । कामरहितत्व इन्द्रियप्रसादमें हेतु है । यद्यपि धातु शब्द शरीरस्थ रस, रक्त, शुक्रादि धातुओंमें प्रयुक्त होता है तो भी 'धारणात् धातुः' इस यौगिक वृत्तिसे इन्द्रियोंमें भी प्रयुक्त हो सकता है, कर्म निमित्तक वृद्धि, क्षयादि शरीरमें होते हैं आत्मामें नहीं, क्योंकि 'न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' 'अर्थात् आत्मा न कर्मसे बढ़ता है और न घटता है' ऐसी श्रुति है । और 'तरति शोकमात्मवित्' यह फल बोधक श्रुति है ॥ २० ॥

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ २१ ॥

आसीनः (अचल एव सन्) दूरं व्रजति (गच्छति) शयानः (उपरतक्रियश्च) सर्वतः याति, मदामदं (मदो-हर्षः, अमदः हर्षाभावः, तद्विशिष्टम् एवं विरुद्धधर्मवन्तं) देवं (प्रकाशमानं) तम् (आत्मानं) मदन्यः कः, ज्ञातुं (विज्ञातुम्) अर्हति (शक्नोति)।२१।

वह अवस्थित हुआ भी दूरतक जाता है, शयन करता हुआ भी सब ओर पहुँचता है। मद-हर्ष युक्त और मदरहित उस देवको भला मेरे बिना और कौन जान सकता है ॥ २१ ॥

आसीनोऽवस्थितोऽचल एव सन्दूरं व्रजति। शयानो याति सर्वत एवमसावात्मा देवो मदामदः समदोऽमदश्च सहर्षोऽहर्षश्च विरुद्धधर्मवानतोऽशक्यत्वाज्ज्ञातुं कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ? अस्मदादेरेव सूक्ष्मबुद्धेः पण्डितस्य सुविज्ञेयोऽयमात्मा स्थितगतिनित्यानित्यादिविरुद्धानेकधर्मोपाधिकत्वाद्विरुद्धधर्मवत्त्वाद्विश्वरूप इव चिन्तामणिवदवभासते। अतो दुर्विज्ञेयत्वं दर्शयति कस्तं मदन्यो ज्ञातुमर्हतीति। करणानामुपशमः शयनं करणजनितस्यैकदेश-

आसीन-अवस्थित-अचल होता हुआ भी दूर चला जाता है तथा सोता हुआ भी सब ओर पहुँचता है। इस प्रकार वह आत्मा-देव समद-हर्षयुक्त और अमद हर्षरहित विरुद्ध धर्मवाला है, अतः जाननेमें न आसकनेके कारण उस हर्षयुक्त और हर्षरहित देवको मेरे सिवा और कौन जान सकता है ? यह आत्मा हम जैसे सूक्ष्मबुद्धि पण्डितोंके लिए ही सुविज्ञेय है। स्थिति, गति तथा नित्य, अनित्य आदि विरुद्ध अनेक धर्मरूप उपाधिवाला तथा विरुद्ध धर्मवाला होनेसे यह चिन्तामणिके समान विश्वरूप-सा भासता है, अतः मेरे सिवा उसे और कौन जान सकता है, [यमराज] ऐसा कहकर उसकी दुर्विज्ञेयता दिखलाते हैं। इन्द्रियोंका शान्त हो जाना शयन है, शयन करनेवाले पुरुषका

सत्यानन्दीदीपिका

अन्वय-व्यतिरेकसे कामरहितत्वको आत्माके सुज्ञेयत्व और दुर्विज्ञेयत्वमें 'अन्यथा' आदिसे हेतु कहा गया है।

जाग्रत् और स्वप्नमें मन आदिके व्यापारके साक्षिरूपसे कूटस्थ हो स्थित है, विषयदेशमें मन आदिकी वृत्तियोंको जानेपर तत्प्रतिबिम्बरूपसे जाता है यही 'दूरं व्रजति'का अर्थ है। इन्द्रियोंके 'यह घट है' इत्यादि घटादि आकाररूप विशेष विज्ञानका अभाव शयन-सुषुप्ति है। स्वरूप भूत विज्ञप्ति सामान्यरूपसे अवस्थित होनेसे सर्वत्र जाता है ऐसा कहा जाता है, वस्तुतः व्यापक होनेके कारण वह स्वरूपसे तो सर्वत्र व्याप्त है। यथा

विज्ञानस्योपशमः शयानस्य भवति । यदा चैवं केवलसामान्यविज्ञानत्वात्सर्वतो यातीव यदा विशेषविज्ञानस्थः स्वेन रूपेण स्थित एव सन्मनआदिगतिषु तदुपाधिकत्वाद्दूरं व्रजतीव । स चेहैव वर्तते ॥ २१ ॥

तद्विज्ञानाच्च शोकात्यय इत्यपि दर्शयति—

अशरीरँ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥२२॥

अनवस्थेषु (नश्वरेषु) शरीरेषु अवस्थितम्, अशरीरं, महान्तं (देशतः कालतः वस्तुतश्च अपरिच्छिन्नं) विभुं (सर्वव्यापिनम्) आत्मानं मत्वा (ज्ञात्वा) धीरो (धीमान्) न शोचति ॥ २२ ॥

जो शरीरमें शरीर रहित तथा अनित्योंमें नित्य स्वरूप है उस महान् और सर्वव्यापक आत्माको जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥ २२ ॥

अशरीरं स्वेन रूपेण आकाशकल्प आत्मा तमशरीरं शरीरेषु देवपितृ-

इन्द्रिय जनित एकदेश सम्बन्धी विज्ञान शान्त हो जाता है, जिस समय ऐसी अवस्था होती है उस समय केवल सामान्य ज्ञान (सर्वोपाधि अनुस्यूत स्वरूपविज्ञान) होनेसे वह सब ओर जाता हुआ-सा जान पड़ता है और जब वह विशेष विज्ञान (इन्द्रियादि जनित वस्तु विषयक विशेष विज्ञान)-में स्थित होता है तो स्वरूपसे अविचल होता भी मन आदि उपाधियोंवाला होनेसे उन मन आदिकी गतियोंमें दूर जाता हुआ-सा जान पड़ता है, वस्तुतः तो वह यहीं (देहमें) रहता है ॥ २१ ॥

अब यह भी दिखलाते हैं कि उस आत्माके विज्ञानसे शोकका अन्त हो जाता है—

आत्मा अपने स्वरूपसे आकाशतुल्य है अतः अशरीर है, पुनः अनवस्थित-अवस्थित

सत्यानन्दीदीपिका

[1]विश्वरूप मणि नानारूपसे अवभासित होती है, वैसे ही नाना उपाधियोंके सम्बन्धसे आत्मा भी नानारूपसे भासता है स्वतः नहीं, अथवा यथा चिन्तामणि जैसे-जैसे चिन्तन किया जाता है वैसे-वैसे ही तत् तत् चिन्तनोपाधिवाली भासित होती है, वैसे ही स्थिति गति, नित्यानित्यादि अनेक विरुद्ध धर्म विशिष्ट धर्मरूपसे उपाधिसे आत्मा भी विरुद्ध धर्मवाला-सा भासता है । उपाधिके कल्पित निश्चित होनेपर विवेकीको सुविज्ञेय है उपाधिके अविवेकदर्शीको दुर्विज्ञेय है । इसमें 'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये' (गीता० १७।३) यह स्मृति भी प्रमाण है ॥ २१ ॥

घट, पट आदि अनेक अनित्य उपाधियोंमें असङ्ग नित्य विभु एक आकाशके समान

---

१. विश्वानि नानाविधानि नीलपीतादीनि रूपाणि यस्य स मणिविशेषः ।

मनुष्यादिशरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितिरहितेष्ववस्थितं नित्यमविकृतमित्येतत्, महान्तं महत्त्वस्यापेक्षिकत्वशङ्कायामाह-विभुं व्यापिनमात्मानम् । आत्मग्रहणं स्वतोऽनन्यत्वप्रदर्शनार्थम्, आत्मशब्दः प्रत्यगात्मविषय एव मुख्यस्तमीदृशमात्मानं मत्वाऽयमहमिति धीरो धीमान्न शोचति । न ह्येवंविधस्यात्मविदः शोकोपपत्तिः ॥ २२ ॥

यद्यपि दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा तथाप्युपायेन सुविज्ञेय एवेत्याह—

आत्मा आत्मकृपासाध्य है

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् २३

अयम् आत्मा प्रवचनेन (अध्ययनादिना (लभ्यः (ज्ञेयः-दर्शनीयः) न [भवति] न मेधया (शास्त्रधारणशक्त्या) न बहुना श्रुतेन (केवलशास्त्रश्रवणेन न लभ्यो भवति)

रहित देव पितृमनुष्यादि अनित्य शरीरोंमें अवस्थित-नित्य-अविकृत है । तथा महान् है [किससे महान् है ? इस प्रकार] महत्त्वमें अन्यकी अपेक्षा विषयक आशङ्का होनेपर कहते हैं—उस विभु-व्यापक आत्माको यहाँ 'आत्मा' शब्दका ग्रहण अपनेसे ब्रह्मकी अभिन्नता प्रदर्शित करनेके लिए है, क्योंकि 'आत्मा' शब्द' प्रत्यगात्मविषयमें ही मुख्य है, ऐसे उस आत्माको 'यह मैं हूँ' ऐसा जानकर धीर-बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता, कारण कि इस प्रकारके आत्मवित्‌में शोक युक्त नहीं है ॥ २२ ॥

यद्यपि यह आत्मा दुर्विज्ञेय है तथापि उपायसे तो सुविज्ञेय ही है, इसपर कहते हैं-

सत्यानन्दीदीपिका

आत्मा भी नामरूपात्मक अनेक अनित्य देवादि शरीररूपी उपाधियोंमें असङ्ग नित्य विभु अद्वितीय होनेसे अशरीर है । आत्माको अशरीर कहनेसे स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरोंका अपवादकर उसेमें मिथ्यात्वका भी निश्चय किया गया है । विभु कहकर सापेक्ष महत्त्वका भी निराकरण किया गया है, क्योंकि 'नित्यं विभुं सर्वगतम्' 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इत्यादि श्रुति हैं । सांख्यमत प्रतिपादित प्रत्येक शरीरमें आत्मा होनेसे अनेक पुरुषवादका एक वचन 'अशरीरम्' और 'विभुम्' कहकर खण्डन किया गया है । अपने शरीरमें कूटस्थरूपसे विद्यमान आत्मा प्रत्यगात्मा कहलाता है उसका 'अयं' शब्दसे ग्रहण किया गया है, क्योंकि प्रथम उसीकी अपरोक्ष अनुभूति होती है अनन्तर 'अयं आत्मा ब्रह्म' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंसे 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अभेद ज्ञान होता है। उस अभेद ज्ञानसे अविद्या जनित भेद दर्शनकी निवृत्ति होनेपर तत्कार्य शोकादिकी निवृत्ति भी स्वाभाविक है । 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ईश० ७) यह श्रुति अभेददर्शनका फल कहती है ॥ २२ ॥

एष (साधकः) यमेव (आत्मनमेव) वृणुते (आत्मदर्शनाय वरयति) तेन (आत्मना) (लभ्यः । एष आत्मा, स्वां (स्वकीयां पारमार्थिकीं) तनुं (मूर्तिम्) तस्य (आत्मकामस्य वृणुते (प्रकाशयति) ॥ २३)

यह आत्मा वेदाध्ययन द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है न धारणशक्ति और न अधिक श्रवणसे प्राप्त होने योग्य है, यह साधक जिस-आत्माका वरण करता है उस आत्मासे ही यह ज्ञात हो सकता है। उसके प्रति यह आत्मा अपने यथार्थ स्वरूपको प्रकाशित-अभिव्यक्त कर देता है ॥ २३ ॥

नायमात्मा प्रवचनेनानेकवेदस्वीकरणेन लभ्यो ज्ञेयो नापि मेधया ग्रन्थार्थधारणशक्त्या। न बहुना श्रुतेन केवलेन। केन तर्हि लभ्य इत्युच्यते-यमेव स्वात्मानमेष साधको वृणुते प्रार्थयते तेनैवात्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायत एवमित्येतत्। निष्कामस्यात्मानमेव प्रार्थयत आत्मनैवात्मा लभ्यत इत्यर्थः। कथं लभ्यत इत्युच्यते-तस्यात्मकामस्यैष आत्मा विवृणुते प्रकाशयति पारमार्थिकीं तनूं स्वां स्वकीयां स्वयाथात्म्यमित्यर्थः ॥ २३ ॥

किं चान्यत्—

यह आत्मा प्रवचन अर्थात् ऋगादि अनेक वेदोंके स्वीकार करनेसे प्राप्त-जानने योग्य नहीं है, न मेधा-ग्रन्थ धारणशक्तिसे जानने योग्य है और न केवल बहुत श्रवण करनेसे ही, तो फिर किस उपायसे लभ्य है? इसपर कहते हैं—यह साधक जिस अपने आत्माका वरण-प्रार्थना-अभेदरूपसे अनुसन्धान करता है उसी वरण करनेवाले आत्माद्वारा यह आत्मा स्वयं ही लभ्य है अर्थात् 'यह ऐसा है' ऐसा जाना जाता है। केवल आत्मलाभके लिए प्रार्थना करनेवाले निष्काम आत्मकाम पुरुषको आत्माद्वारा ही आत्माकी उपलब्धि होती है यह अर्थ है। किस प्रकार उपलब्ध होता है? इसपर कहते हैं—उस आत्मकामके प्रति यह आत्मा अपने पारमार्थिक स्वरूप अपने याथात्म्यको विवृत्त-प्रकाशित कर देता है, यह अर्थ है ॥ २३ ॥

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह भी है—

सत्यानन्दीदीपिका

ऋग् आदि चारों वेदोंके पठन पाठनको यहाँ प्रवचन समझना चाहिए। न ब्रह्मात्मैक्य प्रतिपादक उपनिषद्विचारसे अतिरिक्त शास्त्र श्रवणसे आत्मा लभ्य है और न ब्रह्मविदाचार्य उपदेश रहित शास्त्र श्रवणसे। ईश्वर और आचार्य अनुग्रहसे साधकको आत्मा लभ्य है, जो अधिकारी प्रत्यक्चैतन्यरूप अपने आत्माका वेदान्त महावाक्योंके श्रवण कालमें ही 'प्रत्यग्ब्रह्म मैं हूँ' ऐसा अनुसन्धान करता है उसीके प्रति आत्मा अपने यथार्थ स्वरूपको अभिव्यक्त करता है अर्थात् ईश्वर और आचार्यसे अनुगृहीत 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार अनुसन्धाता आत्मसाक्षात्कार कर सकता है ॥ २३ ॥

आत्मज्ञानका अनधिकारी

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ २४ ॥

दुश्चरितात् (शास्त्रनिषिद्धाचरणात्) अविरतः (अनुपरतः) न, अशान्तः (असंपादितेन्द्रियनिग्रहः) न, असमाहितः (विक्षिप्तचित्तः) न, अशान्तमानसः (विषयभोगे अलंबुद्धिरहितः) न, प्रज्ञानेन (ब्रह्मज्ञानेन) एनम् (आत्मानम्) आप्नुयात् (प्राप्नोति) ॥ २४ ॥

जो पाप कर्मोंसे निवृत्त नहीं है, संयतेन्द्रिय नहीं है, समाहित चित्त नहीं है और अशान्त मनवाला है, वह उस आत्माको ब्रह्मज्ञानद्वारा प्राप्त नहीं कर सकता २४

न दुश्चरितात्प्रतिषिद्धाच्छ्रुतिस्मृत्यविहितात्पापकर्मणोऽविरतः अनुपरतो नापीन्द्रियलौल्यादशान्तोऽनुपरतो नाप्यसमाहितोऽनेकाग्रमना विक्षिप्तचित्तः, समाहितचित्तोऽपि सन्समाधानफलार्थित्वान्नाप्यशान्तमानसो व्यापृतचित्तः प्रज्ञानेन ब्रह्मविज्ञानेनैनं प्रकृतमात्मानमाप्नुयात् । यस्तु दुश्चरिताद्विरत इन्द्रियलौल्याच्च समाहितचित्तः समाधानफलादप्युपशान्तमानसश्चाचार्यवान्प्रज्ञानेन यथोक्तमात्मानं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

जो दुश्चरित-प्रतिषिद्ध-श्रुतिस्मृतिसे अविहित पापकर्मसे अविरत-अनुपरत है-उपरत नहीं है, जो इन्द्रियोंके चापल्यके कारण अशान्त-उपरति रहित है, असमाहित-जो एकाग्र मनवाला नहीं है अर्थात् विक्षिप्तचित्त है । तथा समाहित चित्त होते भी एकाग्रताके फलका इच्छुक होनेके कारण अशान्तमना है अर्थात् व्यापार युक्त चित्तवाला है, ऐसा पुरुष इस प्रकृत आत्माको प्रज्ञान- ब्रह्मज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता । किन्तु जो पाप कर्म और इन्द्रियोंके चापल्यसे विरत है, समाहित चित्त है और समाधान-एकाग्रताके फलसे भी उपशान्तमना है, वह आचार्यवान् साधक ही ब्रह्मज्ञानद्वारा यथोक्त आत्माको प्राप्त करता है, ऐसा अर्थ है ॥ २४ ॥

सत्यानन्दीदीपिका

ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंमें आत्मा सम है, अतः ज्ञानीके समान अज्ञानीको भी ब्रह्मकी प्राप्ति होनी चाहिए ? इसपर 'नाविरतः' आदिसे कहते हैं—

देहसे उत्पन्न पाप दुश्चरित है, नेत्रादि इन्द्रियोंकी विषयोन्मुखतादका नाम चापल्य है, इससे विपरीत आचरणवाला आत्माको प्राप्त करता है, इसे 'यस्तु' आदिसे कहते हैं ॥ २४ ॥

यस्त्वनेवंभूतः—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥ २५ ॥

यस्य (आत्मनः) ब्रह्म (ब्राह्मणजातिः) च क्षत्रं (क्षत्रियजातिः) च उभे ओदनः (अन्नं) भवतः । मृत्युः (सर्वप्राणिसंहारकः) यस्य उपसेचनम् (उपकरणं शाकस्थानीयं) सः (एव जगत्-संहर्तृत्वगुणः) यत्र (स्वमहिम्नि तिष्ठति) [तम्] इत्था (इत्थंरूपेण) को वेद (जानाति न कोऽपीति भावः) ॥ २५ ॥

जिस आत्माके ब्राह्मण और क्षत्रिय ये दोनों ओदन-भात हैं तथा प्राणिसंहारक मृत्यु जिस आत्माका उपसेचन - शाकस्थानीय है, वह जहाँ स्वमहिमामें है उसे कौन (अज्ञपुरुष) इस प्रकार (उपर्युक्त साधन सम्पन्न अधिकारीके समान) जान सकता है ॥ २५ ॥

यस्यात्मनो ब्रह्मक्षत्रे सर्वधर्मविधारके अपि सर्वत्राणभूते उभे ओदनोऽशनं भवतः स्याताम्, सर्वहरोऽपि मृत्युर्यस्योपसेचनमिवौदनस्य, अशनत्वेऽप्य-

---

किन्तु जो साधक ऐसा नहीं हैं अर्थात् उक्त साधन सम्पन्न नहीं है [उसके सिषयमें श्रुति कहती है—]

सब कर्मोंको धारण करनेवाले तथा सबका रक्षकरूप होते भी ब्राह्मण और क्षत्रिय ये दोनों भला जिस आत्माके ओदन-भोजन हैं तथा सब प्राणियोंका संहारक मृत्यु भी जिसका भातके लिए उपसेचन-शाकादिके समान है अर्थात् भोजनके लिए भी पर्याप्त नहीं है, उस आत्माको जहाँ कि वह है, ऐसा कौन पूर्वोक्त साधन रहित

सत्यानन्दीदीपिका

साधन सम्पन्न साधकद्वारा जो ब्रह्म ज्ञेय है उसका 'यस्य' आदिसे निर्देश करते हैं, सर्वधर्म विचारकत्व सर्वत्राणमें हेतु है । ब्राह्मण धर्म उपदेश द्वारा और क्षत्रिय प्राणीको कर्ममें नियुक्त करनेसे रक्षक है । इसप्रकार जगत्के रक्षार्थ दोनों सर्वोपरि माने गये हैं, अपने स्वरूपमें स्थित आत्माको जैसे साधनसम्पन्न पुरुष जानता है वैसे साधन रहित प्राकृत बुद्धि पुरुष नहीं जान सकता है, अतः आत्मदर्शनार्थ साधनसंपन्नता अपेक्षित है ॥ २५ ॥

कठोपनिषद्के प्रथमाध्यायकी द्वितीयवल्लीकी स्वामी सत्यानन्द सरस्वती विरचित सत्यानन्दीदीपिका समाप्त ॥ २ ॥

पर्याप्तस्तं प्राकृतबुद्धिर्यथोक्तसाधनरहितः सन्क इत्था इत्थमेवं यथोक्तसाधनवानिवेत्यर्थः, वेद विजानाति यत्र स आत्मेति ॥ २५ ॥

शङ्कर भगवत्पाद विरचित शाङ्करभाष्य कठोपनिषद् द्वितीयवल्ली समाप्त ॥ १-२ ॥

और साधारण बुद्धिवाला पुरुष जो इस प्रकार यथोक्त साधन सम्पन्न पुरुषके समान जान सकता है ॥ २५ ॥

कठोपनिषद्के प्रथमाध्यायकी द्वितीयवल्लीका स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत भाष्यानुवाद समाप्त ॥ १-२ ॥

प्रथमाध्यायस्य तृतीयावल्ली

प्राप्ता और प्राप्तव्यभेदसे दो आत्मा

ऋतं पिबन्तावित्यस्यावल्ल्याः सम्बन्धः। विद्याविद्ये नानाविरुद्धफले इत्युपन्यस्ते न तु सफले ते यथावन्निर्णीते; तन्निर्णयार्था रथरूपककल्पना, तथा च प्रतिपत्तिसौकर्यम्। एवं च प्राप्तृप्राप्यगन्तृगन्तव्यविवेकार्थं द्वावात्मानौ उपन्यस्येते—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥१॥

लोके (अस्मिन् शरीरे) सुकृतस्य (कर्मणः) ऋतं (सत्यं फलं) पिबन्तौ (भुञ्जानौ) गुहां (गुहायां बुद्धौ) परमे (बाह्यशरीराकाशाद्यपेक्षया उत्कृष्टे) परार्धे (परस्य ब्रह्मणः अर्धस्थानकल्पे हृदयाकाशे) प्रविष्टौ, छायातपौ (इव विलक्षणौ) ब्रह्मविदः वदन्ति (कथयन्ति) ये च पञ्चाग्नयः (गृहस्थाः) त्रिणाचिकेताः (त्रिः कृत्वः नाचिकेतोऽग्निश्चितो यैः, ते च वदन्ति) ॥ १ ॥

'ऋतं पिबन्तौ' इस तृतीयावल्लीका सम्बन्ध इस प्रकार है—नाना प्रकारके विरुद्ध फलवाली विद्या और अविद्या है ऐसा उल्लेखमात्र किया गया है किन्तु उनका फलसहित यथावत् निर्णय नहीं किया गया है। उनके निर्णयार्थ [इस वल्लीमें] रथ रूपककी कल्पना की गई है, ऐसा करनेसे उनके समझनेमें सुगमता हो जाती है। इस प्रकार प्राप्ता-प्राप्तव्य, गन्ता-गन्तव्यके विवेकार्थ दो आत्माओंका उपन्यास करते हैं—

ब्रह्मज्ञ लोग कहते हैं कि शरीरमें बुद्धिरूप गुहाके भीतर उत्कृष्ट ब्रह्मस्थान-हृदयाकाशमें प्रविष्ट अपने कर्मफलको भोगनेवाले छाया और घामके समान परस्पर विलक्षण दो (जीव और ईश्वर) हैं। यही बात तान वार नचकेत अग्निका चयन करनेवाले तथा वे पञ्चाग्निकी उपासना करनेवाले भी कहते हैं ॥ १ ॥

ऋतं सत्यमवश्यंभावित्वात्कर्मफलं पिबन्तौ, एकस्तत्र कर्मफलं पिबति भुङ्क्ते नेतरः; तथापि पातृसम्बन्धात्पिबन्तावित्युच्यते छत्रिन्यायेन, सुकृतस्य स्वयंकृतस्य कर्मण ऋतमिति पूर्वेण सम्बन्धः; लोकेऽस्मिञ्शरीरे गुहां गुहायां बुद्धौ प्रविष्टौ, परमे बाह्यपुरुषाकाशसंस्थानापेक्षया परमम्, परस्य ब्रह्मणोऽर्धं स्थानं परार्धम्, तस्मिन्हि परं ब्रह्मोपलभ्यते, अतस्तस्मिन्परमे परार्धे हार्दाकाशे

ऋत- अवश्यंभावी होनेके कारण सत्कर्मफलका पान करनेवाले दो आत्मा [यद्यपि] उनमेंसे केवल एक कर्मफलका पान-भोग करता है दूसरा नहीं, तथापि पान करनेवाले से सम्बन्ध होनेके कारण यहाँ छत्रिन्यायसे दोनोंके लिए 'पिबन्तौ' कर्मफलका भोग करते हैं, ऐसा कहा जाता है। सुकृत-स्वयंकृत कर्मफलको भोगते हुए यहाँ 'सुकृतस्य' शब्दका पूर्ववर्ती 'ऋतम्' शब्दके साथ सम्बन्ध है। लोक-इस शरीरमें बुद्धिरूप गुहाके भीतर परम-बाह्य देहाश्रित आकाश संस्थानकी अपेक्षा उत्कृष्ट परब्रह्मके अर्ध-स्थान-परार्धमें प्रविष्ट है, क्योंकि उसीमें परब्रह्म उपलब्ध होता है, अतः तात्पर्य यह है कि उस

सत्यानन्दीदीपिका

इस मन्त्रमें तीन अधिकारोंका वर्णन है इनमें प्रथम 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस प्रकार अनुभव करनेवाले ब्रह्मवित्, द्वितीय-जो गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय, सभ्य और आवासथ्य इस प्रकार पाँच अग्नियोंका सेवन करते हैं अथवा स्वर्ग, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष तथा स्त्री इनमें अग्नि दृष्टि करते हैं, तृतीय-नाचिकेत अग्निका तीनवार चयन करनेवाले इनमें प्रथम उत्तम है। शङ्का—आत्मशब्द चेतनवाची है, अतः यहाँ दो चेतन प्रतीत नहीं होते किन्तु केवल ऋतपानकर्तृत्व प्रतीत होता है। समाधान-कर्मफल भोक्ता जीव एक चेतन तो प्रसिद्ध है द्वितीयके अन्वेषणमें दो संख्याके श्रवणसे 'अस्य गोद्वितीयोऽन्वेष्टव्यः' इस गौका द्वितीय अन्वेषण करना चाहिए, इस कथनसे समान जातीय दूसरी गौका अन्वेषण किया जाता है अश्वका नहीं। इस प्रकार यहां चेतन ही दूसरा ऋतपानकर्ता प्रतीत होता है, अतएव दोनोंमें प्रयुक्त आत्मशब्दसे कोई विरोध नहीं है। यद्यपि इस वाक्यमें जीव और ईश्वर दो चेतन उपन्यस्त हैं उन दोनोंमें कर्मफलका सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि ईश्वरमें कर्मफलका संभव नहीं है तो 'पिबन्तौ' यह कैसे कहा गया है ? समाधान—छत्रिन्याससे—जैसे लोकमें 'छत्रिणो यान्ति' (छातेवाले जाते हैं) छातेवाले और विना छातेवाले दोनोंके लिए वे छातेवाले लोग जा रहे हैं,

प्रविष्टावित्यर्थः। तौ च च्छायातपाविव विलक्षणौ संसारित्वासंसारित्वेन ब्रह्मविदो वदन्ति कथयन्ति। न केवलमकर्मिण एव वदन्ति, पञ्चाग्नयो गृहस्था ये च त्रिणाचिकेताः त्रिःकृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो यैस्ते त्रिणाचिकेताः॥ १॥

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतँ शकेमहि॥ २॥

ईजानानां (यजनशीलानां कर्मिणां) यः (नाचिकेतः अग्निः) सेतुः (दुःखसंत्तरणार्थत्वात्सेतुरिव) तं (नाचिकेतम् अग्निम्) शकेमहि (चेतुं, ज्ञातुं शक्नुमः) अभयं (भयरहितं) पारं (संसारसागरस्येति) तितीर्षतां (तर्तुमिच्छतां ज्ञानिनां) आश्रयभूतं यत् अक्षरं परं ब्रह्म (तदपि ज्ञातुं शकेमहि) ॥ २॥

यजन करनेवालोंके लिए सेतु-आधार भूत नाचिकेत अग्निको हम जानने एवं चयन करनेमें तथा भयशून्य और संसारको पार करनेके अभिलाषी पुरुषोंका आश्रयभूत उस परब्रह्मको जाननेमें हम समर्थ हों॥ २॥

यः सेतुरिव सेतुरीजानानां यजमानानां कर्मिणां दुःखसंतरणार्थत्वान्नाचिकेतोऽग्निस्तं वयं ज्ञातुं चेतुं च शकेमहि शक्नुवन्तः। किंच यच्चाभयं भयशून्यं संसारपारं तितीर्षतां तर्तुमिच्छतां ब्रह्मविदां यत्परमाश्रयमक्षरमात्माख्यं ब्रह्म

परम परार्ध-हृदयाकाशमें प्रविष्ट हैं। वे दोनों संसारी और असंसारिरूप होनेके कारण छाया और घामके समान परस्पर विलक्षण हैं, ऐसा ब्रह्मज्ञ लोग कहते हैं, केवल अकर्मी ही ऐसा नहीं कहते किन्तु जो त्रिणाचिकता-तीनवार नाचिकेत अग्निका चयन करनेवाले तथा जो पञ्चाग्निकी उपासना करनेवाले गृहस्थ भी ऐसा कहते हैं॥ १॥

दुःखको पार करनेका साधन होनेसे जो नाचिकेत अग्नि यजमान-कर्मियोंके लिए सेतुके समान होनेके कारण सेतु है। उसे हम जानने व चयन करनेमें समर्थ हों। तथा जो अभय-भय रहित है और संसारके पार जानेकी इच्छावाले ब्रह्मवेत्ताओंका परम आश्रय अविनाशी आत्मा-नामक ब्रह्म है उसे भी हम जाननेमें समर्थ हो सकें अर्थात्

सत्यानन्दीदीपिका

ऐसा वाक्य प्रयोग होता है, यह छत्रिन्याय है। इस प्रकार यहाँ भोक्ता जीवके सम्बन्धसे ईश्वरको भी भोक्ता कहा गया है। श्रुतिमें 'सुकृतं' शब्द 'दुष्कृत'का भी उपलक्षण है॥ १॥

जैसे नदी, नालोंद्वारा अवरुद्ध मार्ग पार करनेमें सेतु गन्ताके लिए सहायक साधन है, वैसे नाचिकेत अग्नि सब प्रकारके याज्ञिकोंके लिए सेतुरुप है अर्थात् मुमुक्षुको परब्रह्म प्राप्तिके लिए शास्त्रविहित निष्काम यज्ञादि कर्म चित्त शुद्धिद्वारा ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान

तच्च ज्ञातुं शकेमहि शक्नुवन्तः। परापरे ब्रह्मणी कर्मब्रह्मविदाश्रये वेदितव्ये इति वाक्यार्थः। एतयोरेव ह्युपन्यासः कृत ऋतं पिबन्ताविति ॥ २ ॥

तत्र य उपाधिकृतः संसारी विद्याविद्ययोरधिकृतो मोक्षगमनाय संसारगमनाय च तस्य तदुभयगमने साधनो रथः कल्प्यते—

शरीरादिसे सम्बद्ध रथादि रूपक

आत्मानँ रथिनं विद्धि शरीरँ रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥

आत्मानं (शरीराधिष्ठातारंजीवं) रथिनं (रथस्वामिनं) विद्धि (जानीहि) शरीरं (देहं) तु (पुनः) रथं (रथस्थानीयम्) एव (हि) [विद्धि] बुद्धिं तु सारथिं (शरीररूपरथचालकं) [विद्धि] मनः (सङ्कल्पविकल्पलक्षणं) च (अपि) प्रग्रहम् (अश्वसंयमनरज्जुं) [विद्धि] ॥ ३ ॥

शरीराध्यक्ष आत्माको रथी-रथ स्वामी जान, शरीरको रथ, बुद्धिको सारथि और मनको प्रग्रह-लगाम जान ॥ ३ ॥

तत्र तमात्मानमृतपं संसारिणं रथिनं रथस्वामिनं विद्धि जानीहि। शरीरं रथमेव तु रथबद्धहयस्थानीयैरिन्द्रियैराकृष्यमाणत्वाच्छरीरस्य। बुद्धिं तु अध्यवसायलक्षणां सारथिं विद्धि बुद्धिनेतृप्रधानत्वाच्छरीरस्य सारथिनेतृप्रधान इव

कर्मवित्का आश्रय अपर ब्रह्म और ब्रह्मवित्का आश्रय परब्रह्म ये दोनों ही ज्ञातव्य हैं यह वाक्यार्थ है। 'ऋतं पिबन्तौ' इस मन्त्रमें इन दोनों (परापर ब्रह्म) का ही उल्लेख किया गया है ॥ २ ॥

उन दोनोंमें जो उपाधि परिच्छिन्न संसारी-जीव मोक्ष एवं संसारके प्रति गमन करनेके लिए विद्या और अविद्यामें अधिकृत है। उसके लिए उन दोनोंके प्रति गमनके साधनभूत रथकी कल्पना की जाती है—

पूर्वोक्त उन दोनोंमें उस आत्माको-कर्मफल भोक्ता संसारीको रथी-रथस्वामी जान, और शरीरको तो रथ ही समझ, क्योंकि शरीररथमें जुते हुए अश्व स्थानीय इन्द्रियोंसे खींचा जाता है। निश्चयात्मक बुद्धिको सारथि जान, क्योंकि सारथि नेतृत्व प्रधान रथके समान यह शरीर भी बुद्धिनेतृत्व प्रधान है। देहगत सभी कार्य प्रायः बुद्धिके ही

सत्यानन्दीदीपिका

संपादनमें सहायक साधन हैं। 'ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' (बृह० ४-४-२२) ऐसी श्रुति भी है ॥ २ ॥

रथः । सर्वं हि देहगतं कार्यं बुद्धिकर्तव्यमेव प्रायेण । मनः संकल्पविकल्पादिलक्षणं प्रग्रहं रशनां विद्धि । मनसा हि प्रगृहीतानि श्रोत्रानि करणानि प्रवर्तन्ते रशनयेवाश्वाः ॥ ३ ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥

मनीषिणः (विवेकिनः) इन्द्रियाणि हयान् (अश्वान्) आहुः (कथयन्ति) विषयान् (शब्दादीन्) (इन्द्रियेषु) मार्गान् (विषयभूतान्) [आहुः] आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं (शरीरेन्द्रियमनोभिः सहितम्) आत्मानं (भोक्तारं संसारिणम्) भोक्ता इति आहुः ॥ ४ ॥

विवेकी पुरुष इन्द्रियोंको अश्व, तथा अश्वरूपसे कल्पित इन्द्रियोंके गोचर विषयोंको मार्ग और शरीर इन्द्रिय एवं मन युक्त आत्माको भोक्ता कहते हैं ॥ ४ ॥

इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि हयानाहू रथकल्पनाकुशलाः शरीररथाकर्षणसामान्यात् । तेष्वेवेन्द्रियेषु हयत्वेन परिकल्पितेषु गोचरान्मार्गान्रूपादीन्विषयान्विद्धि । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं शरीरेन्द्रियमनोभिः सहितं संयुक्तमात्मानं भोक्तेति

कर्तव्य हैं । सङ्कल्पविकल्पादिरूप मनको प्रग्रह-लगाम समझ, क्योंकि जैसे अश्व लगामसे नियन्त्रित हो चलते हैं, वैसे ही श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ मनसे नियन्त्रित हो अपने अपने विषयमें प्रवृत्त होती हैं ॥ ३ ॥

रथकी कल्पना करनेमें कुशल पुरुष शरीररूपी रथके खींचनेमें साहश्य होनेसे चक्षु आदि इन्द्रियोंको अश्व कहते हैं । रूपादि विषयोंको अश्वरूपसे परिकल्पित उन इन्द्रियोंके गोचर-विचरण पथ जानो । मनीषिगण शरीर, इन्द्रिय और मन सहित-युक्त आत्माको

सत्यानन्दीदीपिका

भाष्यमें संसारी पद ईश्वरकी व्यावृत्तिके लिए है और मुक्त जीवकी व्यावृत्तिके लिए 'विद्यादि' कहा गया है । विद्यामें अधिकृत जीव मोक्ष और अविद्यामें अधिकृत जीव संसार गमनके लिए है, ऐसा विभाग है ।

शरीररूपी रथतादात्म्याभिमानी जीव रथी कहलाता है । जैसे रथमें सारथिका नेतृत्व है वैसे शरीरमें बुद्धिका नेतृत्व है, क्योंकि देहगत गमनागमन आदि रूप सब व्यापार प्रायः बुद्धिद्वारा ही संपादित होते हैं । अन्तःकरणकी निश्चयात्मक वृत्ति बुद्धि है । 'इदमेव करिष्ये' यह वृत्ति सङ्कल्प और 'स्थाणुर्वा पुरुषोवा' इत्यादि संशयात्मक वृत्ति विकल्प है । बुद्धिद्वारा निश्चित किये जानेपर मनसे इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति होती है, अतः मन लगामसदृश है । जैसे अश्वसे रथका संचालन होता है, ठीक वैसे ही इन्द्रियोंद्वारा शरीरका संचालन होता है । इस सादृश्यसे इन्द्रियोंको अश्व कहा गया है ॥ ३ ॥

द्युपाधिकृतमेव तस्य भोक्तृत्वम् । तथा च श्रुत्यन्तरं केवलस्या
दर्शयति—'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृह० ४।३।७) इत्यादि । एवं
वक्ष्यमाणरथकल्पनया वैष्णवस्य पदस्यात्मतया प्रतिपत्तिरुपपद्यते
स्वभावानतिक्रमात् ॥ ४ ॥

अविवेकीकी विवशता

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५

यस्तु (पुनः) अयुक्तेन (असमाहितेन) मनसा (चित्तेन) [
सदा अविज्ञानवान् (प्रवृत्तिनिवृत्तिविषये विवेकहीनः) [भवति] सारथे
तस्य इन्द्रियाणि अवश्यानि (उन्मार्गगामीनि) [भवन्ति] ॥ ५ ॥

किन्तु जो बुद्धिरूपसारथि असंयत चित्तसंयुक्त हो प्रवृत्ति और नि
विवेकहीन होता है उसकी इन्द्रिय सारथीके दुष्ट अश्वोंको भाँति उसके
रहती हैं ॥ ५ ॥

तत्रैवं सति यस्तु बुद्ध्याख्यः सारथिरविज्ञानवाननिपुणोऽविवे
निवृत्तौ च भवति यथेतरो रथचर्यायामयुक्तेनाप्रगृहीतेनासमाहितेन

'यह भोक्ता संसारी है' ऐसा कहते हैं । केवल निरुपाधिक आत्मा तो भ
उसका भोक्तृत्व तो बुद्धि आदि उपाधि निमित्तक है । इसी प्रकार 'ध्यान
सा, चेष्टा करता हुआ-सा' इत्यादि अन्य श्रुति केवल आत्माका अभोक्तृत्व
है, ऐसा होनेपर-औपाधिक भोक्तृत्व होनेपर ही वक्ष्यमाण रथकल्पना
पदकी आत्मभावसे प्राप्ति बन सकती है, अन्यथा नहीं, क्योंकि स्वभाव
नहीं सकता ॥ ४ ॥

किन्तु ऐसा होनेपर (आत्मामें असंसारित्व अस्वाभाविक होनेपर)
सारथि अविज्ञानवान्-अकुशल रथसंचालनमें अनिपुण अन्य सारथिके समा
अश्वोंकी] प्रवृत्ति-निवृत्तिमें विवेक रहित है । जो सर्वदा प्रग्रह-लगाम स्था

सत्यानन्दीदीपिका

अग्निके उष्णत्वादिके समान आत्माके स्वाभाविक संसारित्वादि
सकते तो उनकी निवृत्तिके विना स्वाभाविक असंसारित्व अपरिच्छिन्नत्व
भी उस आत्माको प्राप्त नहीं हो सकता, अतः आत्मामें संसारित्व आदि

न सदा युक्तो भवति तस्याकुशलस्य बुद्धिसारथेरिन्द्रियाण्यश्वस्थानीया-
न्यशक्यनिवारणानि दुष्टाश्वा अदान्ताश्वा इवेतरसारथेर्भवन्ति ।।५।।

विवेकीकी स्वाधीनता

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथे ।। ६ ।।

; सदा युक्तेन (समाहितेन) मनसा विज्ञानवान् भवति, तस्य इन्द्रियाणि,
श्वाः (शिक्षिताश्वाः) इव वश्यानि [भवन्ति] ।। ६ ।।

; जो बुद्धिरूप सारथि-कुशल और सर्वदा समाहित चित्तसे युक्त होता है,
शिक्षित अश्वोंकी भाँति उसकी इन्द्रियाँ वशमें रहती हैं ।। ६ ।।

पुनः पूर्वोक्तविपरीतः सारथिर्भवति विज्ञानवान्प्रगृहीतमनाः समाहित-
दा तस्याश्वस्थनीयानीन्द्रियाणि प्रवर्तयितुं निवर्तयितुं वा शक्यानि
दान्ताः सदश्वा इवेतरसारथेः ।। ६ ।।

पूर्वोक्तस्याविज्ञानवतो बुद्धिसारथेरिदं फलमाह—

अविवेकीकी संसारप्राप्ति

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति सꣳसारं चाधिगच्छति ।। ७ ।।

(पुनः) अविज्ञानवान् (विवेकहीनः) अमनस्कः (अगृहीतमनाः) सदा अशुचिः
ः तत् (प्रसिद्धं वैष्णवं) पदं न आप्नोति (प्राप्नोति) संसारम् अधिगच्छति ।७।

-विक्षिप्तचित्तसे युक्त है, उस अकुशल बुद्धिरूपसाथिके अश्वस्थानीय इन्द्रियाँ
थिके बेकाबू दुष्ट अश्वोंकी भाँति अधीन नहीं होतीं अर्थात् कुमार्गसे हटायी नहीं
।। ५ ।।

; जो (बुद्धिरूप सारथि) पूर्वोक्त सारथिसे विपरीत विज्ञानवान् कुशल प्रगृहीत
अर्थात् सदा समाहित चित्तवाला होता है उसकी अश्वस्थानीय इन्द्रियाँ कर्तव्य
र्तव्यमें क्रमसे प्रवृत्त एवं निवृत्ति की जा सकती हैं जिस प्रकार सारथिके
अश्व ।। ६ ।।

पूर्वोक्त अविवेकहीन बुद्धिरूप सारथिवाले रथीके लिए श्रुति यह फल कहती है—

सत्यानन्दीदीपिका

क अन्वय-व्यतिरेकका 'तत्र' आदिसे उपसंहार करते हैं। नियमन और अनियम-
व्यवहारमें अकुशल जिसे बुद्धिरूप सारथिका मनरूपी लगाम वशमें नहीं है

किन्तु जो पुनः विवेकहीन असंयतमना और सदा अपवित्र रहनेवाला
पदको प्राप्त नहीं कर सकता, प्रत्युत जन्ममरणात्मक संसारको प्राप्त होता है

यस्त्वविज्ञानवान्भवति, अमनस्कोऽप्रगृहीतमनस्कः स तत एवाशु
न स रथी तत्पूर्वोक्तमक्षरं यत्परं पदमाप्नोति तेन सारथिना। न के
नाप्नोति संसारं च जन्ममरणलक्षणमधिगच्छति ॥ ७ ॥

विवेकीकी परमपदप्राप्ति

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥ ८

यः तु (पुनः) विज्ञानवान् समनस्कः (युक्तमानसः) सदा शुचिः भ
तत्पदं (वैष्णवपदम्) आप्नोति (प्राप्नोति) यस्मात् (पदात्) भूयः न ज

किन्तु जो सविवेक संयतचित्त और सदा पवित्र रहनेवाला होता है,
पदको प्राप्त होता है, जहाँसे वह पुनः उत्पन्न नहीं होता ॥ ८ ॥

यस्तु द्वितीयो विज्ञानवान्विज्ञानवत्सारथ्युपेतो रथी विद्वानित्य
मनाः समनस्कः स तत एव सदा शुचिः स तु तत्पदमाप्नोति, यस्म
दप्रच्युतः सन्भूयः पुनर्न जायते संसारे ॥ ८ ॥

किं तत्पदमित्याह—

जो पुनः विवेकहीन असंयतमना और सदा अपवित्र रहनेवाला है,
द्वारा वह जीवरूप रथी उस पूर्वोक्त अक्षर परम पदको प्राप्त नहीं होता। व
प्राप्त नहीं होता केवल इतना ही नहीं प्रत्युत जन्ममरणात्मक सं
होता है ॥ ७ ॥

किन्तु जो द्वितीय रथी विज्ञानसम्पन्न विद्वान् सारथिसे युक्त और सम
है अतः वह सदा ही पवित्र रहनेवाला है, वह तो उस पदको प्राप्त कर ले
प्राप्त पदसे च्युत होकर पुनः संसारमें जन्म नहीं लेता ॥ ८ ॥

वह पद क्या है ? इसपर कहते हैं—

सत्यानन्दीदीपिका

इस मन्त्रमें मुमुक्षुका लक्षण और लक्ष्य कहा गया है। वह मुमुक्षु उस

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥

नरः विज्ञानसारथिः (विवेकसम्पन्नाबुद्धिसारथिः यस्य सः) मनः प्रग्रहवा
(व प्रग्रहः इन्द्रियाश्वसंयमनरज्जु यस्य, सः) सः अध्वनः (संसारगतेः) पार
नं) विष्णोः (व्यापकस्य ब्रह्मणः) तत् (प्रसिद्धं) परमं पदं (स्था
) आप्नोति (प्राप्नोति) ॥ ९ ॥

मनुष्य विवेक सम्पन्न बुद्धिरूप सारथिवाला और इन्द्रियरूप अश्वोंको संय
मनरूपी लगामवाला है, वह संसारगतिके पार-पर्यवसनात्मक-समाप्ति विष्णु
को प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

ज्ञानसारथिर्यस्तु यो विवेकबुद्धिसारथिः पूर्वोक्तो मनः प्रग्रहवान्प्रगृहीत
माहितचित्तः सञ्शुचिर्नरो विद्वान्सोऽध्वनः संसारगतेः पारं परमेव
तव्यमित्येतदाप्नोति मुच्यते सर्वसंसारबन्धनैः तद्विष्णोः व्यापनशीलस्य
परमात्मनो वासुदेवाख्यास्य परमं प्रकृष्टं पदं स्थानं सतत्त्वमित्येतद्यद
ोति विद्वान् ॥ ९ ॥

ुना यत्पदं गन्तव्यं तस्येन्द्रियाणि स्थूलान्यारभ्य सूक्ष्मतारतम्यक्रमेण
मतयाऽधिगमः कर्तव्य इत्येवमर्थमिदमारभ्यते—

पूर्वोक्त विद्वान् पुरुष विवेक सम्पन्न बुद्धिरूप सारथिसे युक्त, मन प्रग्रहवान्-
न-समाहितचित्त होनेसे पवित्र है वह विद्वान् संसारगतिके पर पार जो
ाप्तव्य-ज्ञातव्य है उस परमात्माको प्राप्त कर लेता है अर्थात् सर्वसंसार बन्धनोंसे
ाता है । उस विष्णु-व्यापनशील सर्वव्यापक ब्रह्मरूप वासुदेव संज्ञक पर-
जो परम-उत्कृष्ट पद-स्थान-स्वरूप है उसे वह विद्वान् प्राप्त कर लेता है ॥९॥

जो गन्तव्य—प्राप्तव्य-ज्ञातव्य परम पद है, स्थूल इन्द्रियोंसे आरम्भकर सूक्ष्म
्रमसे प्रत्यगात्मरूपसे उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, इसलिए उसी अर्थका
िया जाता है—

सत्यानन्दीदीपिका

ायति भूतानि स्वस्मिन्निति वासुः स चासौ देवश्च दीव्यत इति स्वप्रकाशः
इससे 'तत्' पदका वाच्यार्थ कहा गया है और 'परमम्' इससे लक्ष्यार्थ
है । 'विष्णोः परमं पदम्' (उत्कृष्टब्रह्मस्वरूप) यहाँ 'विष्णोः [illegible]

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यार्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिबुर्द्धेरात्मा महान्परः ॥ १

इन्द्रियेभ्यः अर्थाः (विषयाः) पराः (सूक्ष्माः-उत्कृष्टाः) अर्थेभ्
विषयेभ्यः) च (अपि) मनः (संकल्पविकल्पात्मकं) परं (सूक्ष्मं)
परा, बुद्धेः महान् आत्मा परः (सूक्ष्मः-उत्कृष्टः) ॥ १० ॥

इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनके विषय श्रेष्ठ हैं, विषयोंसे मन श्रेष्ठ, मनसे
और बुद्धिसे भी महान् आत्मा-महत्तत्त्व उत्कृष्ट है ॥ १० ।

स्थूलानि तावदिन्द्रियाणि तानि यैरर्थैरात्मप्रकाशनायारब्धानि
येभ्यः स्वकार्येभ्यस्ते परा ह्यार्थाः सूक्ष्मा महान्तश्च प्रत्यगात्मभूताः
प्यर्थेभ्यश्च परं सूक्ष्मतरं महत्प्रत्यगात्मभूतं च मनः । मनःशब्द
आरम्भकं भूतसूक्ष्मं संकल्पविकल्पाद्यारम्भकत्वात् । मनसोऽपि

इन्द्रियाँ स्थूल हैं, वे जिन शब्द स्पर्शादि तन्मात्राओं द्वारा अ
प्रकाशित करनेके लिए उत्पन्न की गई हैं वे विषय अपने कार्यभूत इन्द्रि
महान् एवं प्रत्यगात्मभूत हैं । उन विषयोंसे भी पर-सूक्ष्म महान् एवं प्र
है । जो कि मनका आरम्भक भूत सूक्ष्म मन शब्दवाच्य है, मनसे पर-सू
प्रत्यगात्मभूत बुद्धि है अर्थात् अध्यवसायादिका आरम्भक भूतसूक्ष्म बुद्धि

सत्यानन्दीदीपिका

शब्दादि अर्थोंसे मनके आरम्भक भूत-सूक्ष्म-पर है, उनसे बुद्धिके आ
पर हैं, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि कार्यकी अपेक्षा उपादानकारण
व्यापक और अनपायिस्वरूप प्रसिद्ध है जैसे घटादिके प्रति मृत्तिकादि,
भूतोंके परस्पर कार्यकारण भावमें कोई प्रमाण नहीं है । यद्यपि यह
तथापि विषयेन्द्रियव्यवहार मनके अधीन है ऐसा देखनेमें आता है,
व्यापकता कल्पित की गई है । कोई मनको परमार्थतः आत्मा मानते
निवृत्तिके लिए भाष्यमें 'मनः शब्दवाच्यम्' आदि कहा गया है । 'अन्नमयं
(छा० ६।७।६) इत्यादि श्रुति मनको भौतिक कहती है, अतः भौ
आत्मा नहीं हो सकता है । संकल्पादिरूप मन अध्यवसायात्मक बुद्धिसे नि

बुद्धि मनसे पर है । 'बुद्धिरात्मा' इस विज्ञानवादी मतका अपनयन करने

ा प्रत्यगात्मभूता च बुद्धिः, बुद्धिशब्दवाच्यमध्यवसायाद्यारम्भकं भूत-
्। बुद्धेरात्मा सर्वप्राणिबुद्धीनां प्रत्यगात्मभूतत्वादात्मा महान्सर्वमह्-
। अव्यक्ताद्यत्प्रथमं जातं हैरण्यगर्भं तत्त्वं बोधाबोधात्मकं महानात्मा
गर इत्युच्यते ॥ १० ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥११॥

हतः अव्यक्तम् (अव्याकृतं) परम्, अव्यक्तात् अव्याकृतात्) पुरुषः (सर्वापेक्षया) षात् (परमात्मनः) परं किञ्चित् न (अस्ति) सा काष्ठा (अवधिः) सा तः ॥ ११ ॥

हत्तत्वसे अव्यक्त-अव्याकृत मूलप्रकृति पर है और अव्यक्तसे भी पुरुष पर है, पर अन्य कुछ नहीं है, वही सूक्ष्मत्वकी पराकाष्ठा-अवधि है वही उत्कृष्टगति है ।११

हतोऽपि परं सूक्ष्मतरं प्रत्यगात्मभूतं सर्वमहत्तरं चाव्यक्तं सर्वस्य जगतो ्तमव्याकृतनामरूपसतत्त्वं सर्वकार्यकारणशक्तिसमाहाररूपमव्यक्ताव्या- ाशादिनामवाच्यं परमात्मन्योतप्रोतभावेन समाश्रितं वटकणिकायामिव शक्तिः। तस्मादव्यक्तात्परः सूक्ष्मतरः सर्वकारणकारणत्वात्प्रत्यगात्म-

---

द्धिसे भी समस्त प्राणियोंकी बुद्धिका प्रत्यगात्मभूत होनेसे आत्मा महान् है, वह सबसे महान् है । अव्यक्तसे प्रथमोत्पन्न हिरण्यगर्भतत्त्व है । जो (ज्ञानशक्ति याशक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण) बोधाबोधात्मक वह महान् आत्मा बुद्धिसे -सूक्ष्म श्रेष्ठ है, ऐसा कहा जाता है ॥ १० ॥

हत्से पर सूक्ष्मतर प्रत्यगात्मभूत सबसे महान् अव्यक्त है, जो सारे जगत्‌के बीज ्याकृत नामरूपका स्वरूप, सम्पूर्ण कार्यकारण शक्तिका संघात अव्यक्त-अव्याकृत ाकाशादि शब्द वाच्य-निर्दिष्ट तथा वटधानमें आश्रित वटवृक्षकी शक्तिके समान ामें ओतप्रोतभावसे आश्रित है। उस अव्यक्तकी अपेक्षा सर्वकारणोंका कारण

सत्यानन्दीदीपिका

है । भूतादिमें जो उत्तरोत्तर परत्वकी कल्पना की गई है वह केवल परमपुरुषार्थकी । इच्छासे न कि उनमें परत्व प्रतिपादनकी इच्छासे, क्योंकि ऐसा करनेसे कोई । नहीं है ॥ १० ॥

ब्द और अर्थका शक्तिरूप सम्बन्ध नित्य है इसका निर्वाह करनेके लिए

त्वाच्च महांश्च, अत एव पुरुषः सर्वपूरणात्। ततोऽन्यस्य परस्य प्रस
यन्नाह-पुरुषान्न परं किंचिदिति। यस्मान्नास्ति पुरुषाच्चिन्मात्रघनात्प
वस्त्वन्तरं तस्मात्सूक्ष्मत्वमहत्त्वप्रत्यगात्मत्वानां सा काष्ठा निष्ठा प
अत्र हीन्द्रियेभ्य आरभ्य सूक्ष्मत्वादिपरिसमाप्तिः। अत एव च ग
गतिमतां संसारिणां परा प्रकृष्टा गतिः 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' (ग
१५।६) इति स्मृतेः ॥ ११ ॥

ननु गतिश्चेदागत्यापि भवितव्यम्। कथं यस्माद्भूयो न ज
नैष दोषः, सर्वस्य प्रत्यगात्मत्वादवगतिरेव गतिरित्युपचर्यते। प्रत्य
दर्शितमिन्द्रियमनोबुद्धिपरत्वेन। यो हि गन्ता सोऽगतमप्रत्यग्रूपं गन

तथा प्रत्यगात्मभूत होनेसे पुरुष पर-सूक्ष्मतर एवं महान् है, अतएव वह
होनेसे पुरुष शब्द वाच्य है। इसमें 'पर' किसी अन्य वस्तुके प्रसङ्गका नि
कहते हैं—पुरुषसे पर अन्य कुछ नहीं है, क्योंकि चिद्घनमात्र पुरुषसे अन्य व
नहीं है, अतएव वही सूक्ष्मत्व, महत्त्व और प्रत्यगात्मत्वकी पराकाष्ठा-निष्ठ
है। इन्द्रियोंसे आरम्भकर इस आत्मामें ही सूक्ष्मत्वादिकी समाप्ति होती है।
सब गमन करनेवाले गतिशील संसारियोंकी परा-उत्कृष्टगति है, क्योंकि
(जिसको प्राप्तकर-जानकर पुनः संसारावर्तमें नहीं लौटते) ऐसी स्मृति भ

गतिशब्दसे यथाश्रुतार्थका ग्रहणकर शङ्का करते हैं—यदि वैष्णवपदके
है तो वहाँसे आगमन भी होना चाहिए, तो पुनः 'जिससे पुनः जन्म नहीं ले
कहा जाता है ? यह दोष नहीं है, क्योंकि सबका प्रत्यगात्मा है, अतः उस
उपचारसे गति कहा जाता है। इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे परत्वरूपसे आत्माका
दिखलाया गया है, जो गमनकर्ता है वह अपनेसे भिन्न अनात्मभूत प

सत्यानन्दीदीपिका

स्मिन्खल्वरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' (बृह०) 'मायां तु प्रकृतिं वि
तु महेश्वरम्' (श्वे० ४।१०) (तब यह अव्याकृत ही था, अरे गार्गी!
पद वाच्य आकाश-परमात्मामें यह ओत प्रोत है। मायाको सबका कारण र
महेश्वरको मायावी-माया स्वामी जानो) इत्यादि श्रुतिसे अव्यक्त प्रसिद्ध
अव्यक्तको सांख्याभिमत प्रधानसे 'परमात्मनि' आदि भाष्यसे विलक्षण कह
सांख्याभिमत प्रधान जगत्का स्वतन्त्र कर्तृकारण है जब कि अव्यक्त-माया
जगत्का कारण है। अव्यक्त ईश्वरकी शक्ति है पृथक्तत्त्व नहीं है, क्योंकि स

ेपर्ययेण । तथा च श्रुतिः-'अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णवः' इत्याद्या ।
:र्शयति प्रत्यगात्मत्वं सर्वस्य—

आत्मा सूक्ष्मबुद्धिग्राह्य है

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥१२॥

भूतेषु (ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु) गूढः (निहितः) एष आत्मा न प्रकाशते न विभाति) सूक्ष्मदर्शिभिः अग्र्यया सूक्ष्मया बुद्ध्या न दृश्यते ॥ १२ ॥

तोंमें गूढ यह आत्मा प्रकाशमान-प्रत्यक्ष नहीं होता । यह तो सूक्ष्मदर्शी पुरुषों पैनी एवं सूक्ष्म बुद्धिसे देखा जाता है-अनुभव किया जाता है ॥ १२ ॥

रुषः सर्वेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु भूतेषु गूढः संवृतो दर्शनश्रवणादि-मायाच्छन्नोऽत एवात्मा न प्रकाशत आत्मत्वेन कस्यचित् । अहो रा दुरवगाह्या विचित्रा माया चेयं यदयं सर्वो जन्तुः परमार्थतः त्त्वोऽप्येवं बोध्यमानोऽहं परमात्मेति न गृह्णात्यनात्मानं देहेन्द्रियादि-

र करता है इससे विपरीत नहीं । तथा 'अनध्वगा०' (संसार मार्गसे पार छावाले पुरुष मार्ग रहित होते हैं) इत्यादि श्रुति है । इस प्रकार आगेकी सबका प्रत्यगात्मा है, दिखलाती है—

ष-आत्मा ब्रह्मादिसे लेकर स्तम्ब पर्यन्त सब भूतोंमें गूढ़-आवृत छिपा हुआ ादि कर्मकरनेवाला तथा अविद्या-मायासे आच्छन्न-आच्छादित है, अतएव नरूपसे किसीको प्रकाशित-अनुभूत नहीं होता । अहो ! यह माया अतिगम्भीर वं विचित्र है जिससे ये सभी संसारी जीव वस्तुतः परमार्थस्वरूप होते भी

सत्यानन्दीदीपिका

—यदि आत्मा प्रत्यग्रूप है तो वह सबको सर्वदा सर्वत्र प्राप्त है । ऐसी स्थिति प्तिके लिए ज्ञानादि साधन व्यर्थ होंगे ? समाधान—अविद्यासे देहादि अनात्म-ात्मभावसे प्राप्त जो अधिकारी है, वह विद्याद्वारा अनात्मभावको निवृत्तकर े प्राप्त होता है, अतः ज्ञानादि साधन व्यर्थ नहीं है ।

ाशते' आत्मा किसीको प्रकाशित-अनुभूत नहीं होता, इससे यह सिद्ध होता पुष्प, वन्ध्यापुत्रादिके समान नहीं है ? ऐसा नहीं, क्योंकि लिङ्गका दर्शन से देखता हूँ, इसका श्रवण करता हूँ, यह कार्य करता हूँ' इत्यादि लिङ्ग-

संघातमात्मनो दृश्यमानमपि घटादिवदात्मत्वेनाहममुष्य पुत्र इत्यनु गृह्णाति। नूनं परस्यैव मायया मोमुह्यमानः सर्वो लोको बम्भ्रमीति स्मरणम्—'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः' (गीता ७।२९ ननु विरुद्धमिदमुच्यते 'मत्वा धीरो न शोचति' (कठ २।१।४)' (कठ १।३।१२) इति च। नैतदेवम्। असंस्कृतबुद्धेरविज्ञेयत्व इत्युक्तम्। दृश्यते तु संस्कृतया अग्र्यया अग्रमिवाग्र्या तया, एका त्येतत्, सूक्ष्मया सूक्ष्मवस्तुनिरूपणपरया, कैः? सूक्ष्मदर्शिभिः

[शास्त्र और आचार्यद्वारा] इस प्रकार बोध कराये जानेपर भी 'मैं परम ग्रहण नहीं करता प्रत्युत देह, इन्द्रियादि संघात घटादिके समान अ अनात्माको किसीके न कहनेपर भी 'मैं इसका पुत्र हूँ' इस प्रकार आत्म करता है। निश्चय परमात्माकी मायासे मोहित हुआ यह सारा जगत् भ्र है। तथा 'नाहं प्रकाशः'० (योगमायासे आवृत हुआ मैं सबको प्रकाशित होता) इत्यादि स्मृति भी है। पू०—परन्तु 'मत्वा०' (उसे अनुभव पुरुष शोक नहीं करता) 'न प्रकाशते०' (प्रकाशित नहीं होता) यह तो जाता है? सि०—ऐसा नहीं है, आत्मा असंस्कृतबुद्धि पुरुषके लिए अवि 'न प्रकाशते' ऐसा कहा गया है। वह तो संस्कृत-तीक्ष्ण किसी पैनीनोकवे हो ऐसी एकाग्रता युक्त एवं सूक्ष्मवस्तुके निरूपण-निरीक्षण परायण तीव्र अनुभव किया जाता है। किनके द्वारा? सूक्ष्मदर्शियों द्वारा। 'इन्द्रियोंके उनसे सूक्ष्म हैं' इत्यादि प्रकारसे सूक्ष्मताकी परम्पराका दर्शन-विचार

सत्यानन्दीदीपिका

होता कि अविद्या प्रतिबन्धक है, मायासे आवृत है, इससे यह अपने ब्रह्मरूपसे नहीं जानता और 'मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ' ऐसा व्यवहार योग्य भी अविद्या विद्यासे निवर्त्य और मिथ्या है तो भी ऐसी दुरवगाह्य एवं विचि और आचार्य द्वारा 'तत्त्वमसि' 'पर एव आत्मा नासि संसारी' (तू परमा नहीं है) ऐसा बार बार प्रतिबोधित किये जाने पर भी 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐस प्रत्युत अपने दृश्यमान अनात्म-देहेन्द्रियादि संघातको 'त्वं देवदत्तस्य पु इस प्रकार प्रतिबोधित न होते भी 'मैं इसका पुत्र हूँ' ऐसा ग्रहण कर विषयमें 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः' (गीता ७।२४) वचन भी है। 'इन्द्रियोंसे लेकर अव्यक्त पर्यन्त जो सूक्ष्मत्व, महत्त्व एवं

शिनस्तैः सूक्ष्मदर्शिभिः पण्डितैरित्येतत् ॥ १२ ॥

लयचिन्तन

तेपत्त्युपायमाह—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥१३॥

(विवेकी) वाक् (वाचं) मनसि (नियच्छेत्) तत् (मनः) ज्ञाने (प्रकाश-
ात्मनि (बुद्धौ) यच्छेत् । ज्ञानं (बुद्धिं) महति आत्मनि (महत्तत्वे)
त् (महत्तत्वं) शान्ते (विकाररहिते) आत्मनि (परमात्मनि) यच्छेत् ॥१३॥

ो पुरुष वाक् इन्द्रियका मनमें उपसंहार करे, उसका प्रकाशस्वरूप बुद्धिमें
द्धिको महत्तत्वरूप आत्मामें लीन करे और महत्तत्त्वको शान्त आत्मामें
॥ १३ ॥

नियच्छेदुपसंहरेत्प्राज्ञो विवेकी, किम् ? वाग्वाचम् । वागत्रोपलक्षणार्थो
न्द्रियाणाम् । क ? मनसी । मनसीतिच्छान्दसं दैर्घ्यम् । तच्च मनो
ने प्रकाशस्वरूपे बुद्धावात्मनि । बुद्धिर्हि मनआदिकरणान्याप्नोती-
त्यक् तेषाम् । ज्ञानं बुद्धिमात्मनि महति प्रथमजे नियच्छेत् । प्रथम-

---

स्तुको देखनेका स्वभाव हो गया है वे सूक्ष्मदर्शी हैं, उन सूक्ष्मदर्शी पण्डितों
जाता है यह अर्थ है ॥ १२ ॥

उसकी प्राप्तिका उपाय कहते हैं अर्थात् आत्मप्राप्तिका साधन कहते हैं—

ो पुरुष 'यच्छेत्' अर्थात् नियुक्त करे-उपसंहार करे, किसका ? वाक्-वाणीका
सब इन्द्रियोंका उपलक्षणार्थक है, कहाँ उपसंहार करे ? मनमें 'मनसी' पदमें
स ह्रस्व इकारके स्थानमें 'ई-सी' दीर्घ प्रयोग वैदिक है, उस मनको ज्ञान-
रूप बुद्धि-आत्मामें नियुक्त करे, बुद्धि ही मन आदि करणोंको व्याप्त करती

सत्यानन्दीदीपिका

ोता है तब 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंद्वारा 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसी बुद्धि-
न होती है और उसमें अभिव्यक्त ब्रह्मभाव स्वतः अपरोक्षरूपसे व्यवहित
१२ ॥

'वाचम्' यहां वाक् वैदिक प्रयोग है । विवेकी पुरुषको अपने इन्द्रिय समुदायको
करनेके लिए सर्व प्रथम वाणीका निग्रह करना चाहिए । वाणीसे [illegible]

जवत्स्वच्छस्वभावकमात्मना विज्ञानमापादयादित्यर्थः । तं च महा
यच्छेच्छान्ते सर्वविशेषप्रत्यस्तमितरूपेऽविक्रिये सर्वान्तरे सर्व
साक्षिणि मुख्य आत्मनि ॥ १३ ॥

एवं पुरुष आत्मनि सर्वं प्रविलाप्य नामरूपकर्मत्रयं यन्मिथ्य
म्भितं क्रियाकारकफललक्षणं स्वात्मयाथात्म्यज्ञानेन मरीच्युदकरज्जु
मलानीव मरीचिरज्जुगगनस्वरूपदर्शनेनैव स्वस्थः प्रशान्तात्मा कृतकृ
यतोऽतस्तद्दर्शनार्थम्—

उद्बोधन

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वद

[हे मुमुक्षवः !] उत्तिष्ठत (आत्मज्ञानोन्मुखाः भवत) जाग्रत (मोहनि
वरान् (श्रेष्ठान् आचार्यान्) प्राप्य (समीपं गत्वा) निबोधत (नितरां
निशिता (तीक्ष्णीकृता) दुरत्यया (दुःखेन अतिक्रमितुं शक्या) क्षुरस्य (के
साधनस्य) धारा (अग्रभागमिव) दुर्गं (दुःखेन गन्तुं शक्यं) तत् (तं) पथ
कवयः (विद्वांसः) वदन्ति ॥ १४ ॥

है इसलिए वह उनका आत्मा-प्रत्यक्स्वरूप है । उस ज्ञानरूप बुद्धिको प्रथमोत
आत्मामें लय करे अर्थात् प्रथम उत्पन्न महत्तत्त्वके समान आत्माका स्वच्
विज्ञान प्राप्त करे ऐसा अर्थ है । और उस महान् आत्माको सर्व विशेषोंसे रहि
सर्वान्तर तथा बुद्धिके सर्वप्रत्ययोंके साक्षी शान्त मुख्य आत्मामें नियुक्त करे ॥

मृगतृष्णा, रज्जु और आकाशके स्वरूपज्ञानसे मृगजल, रज्जुसर्प और
मालिन्यका बाधकर जैसे बाह्याभ्यन्तरेन्द्रियव्यापार रहित हो पुरुष स्वस्थ ब
जाता है, वैसे ही मिथ्याज्ञानसे संपादित जो यह सर्व प्रपञ्च-नाम, रूप एव
तीनोंको, जो क्रिया, कारक और फलरूप हैं, स्वात्माके यथार्थ ज्ञानद्वारा पुरु
लीनकर विवेकी स्वस्थ प्रशान्तचित्त एवं कृतकृत्य हो जाता है, क्योंकि ऐसा
उसका साक्षात्कार करनेके लिए—

सत्यानन्दीदीपिका

*मिलता और मनको भी अन्य शब्दोंके सोचनेका अवसर कम मिलता है, इ
भी संयम हो जाता है । मनको बुद्धिमें लय अर्थात् बुद्धिमात्र होनेसे मनका
जाता है, व्यष्टि बुद्धिका समष्टि बुद्धिरूप महतत्त्वमें लय होकर ...

आपका श्रेष्ठ लोगो ! उठो, [अज्ञाननिद्रासे] जागो और श्रेष्ठ आचार्योंके समीप ज्ञान प्राप्त करो, जैसे छुरेकी धार तीक्ष्ण व दुस्तर होती है, तत्त्वज्ञानी लोग उस वैसा ही कहते हैं ॥ १४ ॥

नाद्यविद्याप्रसुप्ता उत्तिष्ठत हे जन्तव आत्मज्ञानाभिमुखा भवत, जाग्रता- द्राया घोररूपायाः सर्वानर्थबीजभूतायाः क्षयं कुरुत। कथम् ? प्राप्यो- वरान् प्रकृष्टानाचार्यांस्तद्विदस्तदुपदिष्टं सर्वान्तरमात्मानमहमस्मीति तावगच्छत। न ह्युपेक्षितव्यमिति श्रुतिरनुकम्पयाह मातृवत्। अति- बुद्धिविषयत्वाज्ज्ञेयस्य। किमिव सूक्ष्मबुद्धिरित्युच्यते; क्षुरस्य धाराग्रं ता तीक्ष्णीकृता दुरत्यया दुःखेनात्ययो यस्या सा दुरत्यया। यथा सा दुर्गमनीया तथा दुर्गं दुःसम्पाद्यमित्येतत्पथः पन्थानं तत्त्वज्ञानलक्षणं कवयो मेधाविनो वदन्ति। ज्ञेयस्यातिसूक्ष्मत्वात्तद्विषयस्य ज्ञानमार्गस्य पाद्यत्वं वदन्तीत्यभिप्रायः ॥ १४ ॥

त्कथमतिसूक्ष्मत्वं ज्ञेयस्येत्युच्यते, स्थूला तावदियं मेदिनी शब्दस्पर्श- गन्धोपचिता सर्वेन्द्रियविषयभूता तथा शरीरम्। तत्रैकैकगुणापकर्षेण

नादि अविद्यासे सोये हुए जीवो ! उठो, आत्मज्ञानके अभिमुख होओ तथा घोर- ज्ञान निद्रासे जागो वह सम्पूर्ण अनर्थोंकी बीजभूत है, उसका क्षय करो। किस ? श्रेष्ठ-उत्कृष्ट आत्मज्ञानी आचार्योंके पास जाकर। उनके द्वारा उपदिष्ट सर्वान्तर को 'मैं यही हूँ' ऐसा जानो। उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ऐसा माताके अनुकम्पा कर श्रुति कहती है, क्योंकि वह ज्ञेयपदार्थ अतिसूक्ष्म बुद्धिका विषय सूक्ष्म बुद्धि कैसी है ? इसपर कहते हैं—निशिता-तीक्ष्ण की हुई छुरेकी धार- जैसे दुरत्य होती है—जिसे कठिनतासे पार किया जा सके वह दुरत्यय है। पैरोंसे दुर्गमनीय है वैसे ही यह तत्त्वज्ञानरूपमार्ग अत्यन्त दुर्गम-दुष्प्राप्य है, वि-मेधावी पुरुष कहते हैं। अभिप्राय यह है कि ज्ञेय अत्यन्त सूक्ष्म है अतः तद्वि- ज्ञान मार्गको भी दुष्प्राप्य कहते हैं ॥ १४ ॥

ज्ञेय अतिसूक्ष्म कैसे है ? इसपर कहते हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध पाँच विषयों) से वृद्धिको प्राप्त हुई तथा सब इन्द्रियोंकी विषयभुत यह पृथिवी ऐसा यह शरीर भी है। उन गन्धादि गुणोंमेंसे एक एक गुणका अपकर्ष (कम)

सत्यानन्दीदीपिका

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्' (गी० १३।८) इस प्रकार विषयदोष

अभ्याससे मन आदि सभी इन्द्रियोंके ...

शमिति ते गन्धादयः सर्व एव स्थूलत्वाद्विकाराः शब्दान्ता यत्र न
तस्य सूक्ष्मत्वादिनिरतिशयत्वं वक्तव्यमित्येतद्दर्शयति श्रुतिः—

निर्विशेष आत्मतत्त्वज्ञानसे अमृतत्वप्राप्ति

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमु

यत् (ब्रह्म) अशब्दं (शब्दगुणहीनम्) अस्पर्शं (स्पर्शगुणरहितम्) अ
गुणरहितम्) अव्ययं (निर्विकारं) तथा अरसं (रसगुणरहितं) नित्यं
नाशरहितम्) अगन्धवत् (गन्धगुणरहितं [भवति] अनाद्यनन्तं (आ
महतः परं (बुद्धितत्त्वात् विलक्षणं) ध्रुवं (शाश्वतं) तम् (आत्मानं
(अवगम्य) मृत्युमुखात् (कामादिबन्धात्) मुच्यते (मुक्तो भवति) ॥

जो शब्द, स्पर्श एवं रूपरहित अव्यय तथा रसहीन, नित्य और गन्ध
जो अनादि, अनन्त, महत्तत्त्वसे विलक्षण और ध्रुव-निश्चल है उस आत्मतत्त्
पुरुष मृत्यु मुखसे मुक्त हो जाता है ॥ १५ ॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत, एत
ब्रह्माव्ययम् यद्धि शब्दादिमत्तद्व्येतीदं त्वशब्दादिमत्त्वादव्ययं न व्येति
अत एव च नित्यम्। यद्धि व्येति तदनित्यमिदं तु न व्येत्यतो नित्
नित्यमनाद्यविद्यमान आदिः कारणमस्य तदिदमनादि। यद्ध्यादि

होनेसे आकाश पर्यन्त जलादि चार भूतोंमें सूक्ष्मत्व, महत्त्व, विशुद्धत्व एवं
का तारतम्य देखा गया है शब्दपर्यन्त वे गन्धादि सभी स्थूल होनेसे विका
जिसमें ये शब्द पर्यन्त गन्धादि विकार नहीं हैं उसके सूक्ष्मत्व आदिकी नि
विषयमें क्या कहा जाय ? यही बात आगेकी श्रुति दिखलाती है—

जो शब्द रहित, स्पर्श रहित, रूपरहित, अव्यय तथा रसरहित, नि
रहित है ऐसी जिसकी व्याख्या की जाती है वह ब्रह्म अव्यय-अविनाशी है,
पदार्थ शब्दादि युक्त होता है उसका व्यय-क्षय होता है किन्तु यह ब्रह्म श
न होनेके कारण अव्यय है। इसका व्यय-क्षय नहीं होता इसलिये यह नित्य

सत्यानन्दीदीपिका

सूक्ष्मत्व तारतम्यकी विश्रान्तिका स्थान होनेसे ज्ञेय ब्रह्म अतिसूक्ष्म है,
'उच्यते' से कहते हैं। जितने जितने गुणोंका अपचय (न्यूनता) होता

... ... २१) सर्वकारणत्वादकार्यमका-
न्नित्यं न तस्य कारणमस्ति यस्मिन्प्रलीयेत। तथानन्तमविद्यमानोऽन्तः
ास्य तदनन्तम्। यथा कदल्यादेः फलादिकार्योत्पादनेनाप्यनित्यत्वं दृष्टं न
थाप्यन्तवत्त्वं ब्रह्मणः; अतोऽपि नित्यम्। महतो महत्तत्त्वाद् बुद्ध्याख्या-
विलक्षणं नित्यविज्ञप्तिस्वरूपत्वात्सर्वसाक्षि हि सर्वभूतात्मत्वाद् ब्रह्म।
हे 'एष सर्वेषु भूतेषु' (कठ १।३।१२) इत्यादि। ध्रुवं च कूटस्थं नित्यं न
यादिवदापेक्षिकं नित्यत्वम्। तदेवंभूतं ब्रह्मात्मानं निचाय्यावगम्य तमा-
मृत्युमुखान्मृत्युगोचरादविद्याकामकर्मलक्षणात्प्रमुच्यते विमुच्यते ॥ १५ ॥
स्तुतविज्ञानस्तुत्यर्थमाह श्रुतिः—

प्रस्तुत विज्ञानकी महिमा

नचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तँ सनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥१६॥

सका व्यय होता है वह अनित्य होता है, इसका व्यय नहीं होता अतएव नित्य
ह इससे भी नित्य है, क्योंकि अनादि है। इसका आदि-कारण विद्यमान नहीं है
ह अनादि है, क्योंकि जो पदार्थ आदिमान् है वह कार्यरूप होनेसे अनित्य होता
अपने कारणमें लीन हो जाता है जैसे पृथिवी आदि, किन्तु यह आत्मा तो
कारण होनेसे अकार्य है और अकार्य होनेसे नित्य है, इसका कोई कारण नहीं
लीन हो।

आत्मा अनन्त भी है, जिसका अन्तः-कार्य विद्यमान न हो वह अनन्त है,
कार्य उत्पन्न करनेसे भी कदली आदि जैसे अनित्य देखे गये हैं वैसे ब्रह्मका
व नहीं है, इसलिए भी वह नित्य है, नित्यविज्ञप्ति स्वरूप होनेके कारण बुद्धि-
महत्तत्त्वसे पर-विलक्षण है, क्योंकि ब्रह्म सम्पूर्ण भूतोंका अन्तरात्मा होनेके कारण
साक्षी है। यह बात 'एष सर्वेषु०' (यह आत्मा सभी भूतोंमें गूढ़ है, अतः
त नहीं होता) इत्यादि श्रुतिमें कही गई है। इसी प्रकार वह ध्रुव-कूटस्थ नित्य
सकी नित्यता पृथिवी आदिके समान आपेक्षिक नहीं है। इस प्रकारके उस ब्रह्म
को जानकर साक्षात्कारकर पुरुष मृत्युमुखसे-अविद्या, काम और कर्मरूपमृत्यु-
बन्धनसे अच्छी तरह मुक्त हो जाता है ॥ १५ ॥
ब प्रस्तुत विज्ञानकी स्तुतिके लिए श्रुति कहती है—

सत्यानन्दीदीपिका

ाभाव है, 'केवलो निर्गुणश्च' (श्वे० ६।११) इत्यादि श्रुति भी है। इससे ब्रह्ममें

नचिके मृत्युप्रोक्त (यमेन उक्तं) सनातनं (चिरन्तनं) नाचिकेतं (सम्बद्धम्) उपाख्यानं उक्त्वा (मुमुक्षवे व्याख्याय) [स्वयं] च श्रुत्वा महीयते (उपास्यो भवति) ॥ १६ ॥

नचिकेताद्वारा प्राप्त तथा यमसे प्रतिपादित इस सनातन विज्ञानको क सुनकर मेधावी पुरुष ब्रह्मलोकमें महिमान्वित होता है ॥ १६ ॥

नाचिकेतं नचिकेतसा प्राप्तं नाचिकेतं मृत्युना प्रोक्तं मृत्युप्रोक्तमिद मुपाख्यानं वल्लीत्रयलक्षणं सनातनं चिरन्तनं वैदिकत्वादुक्त्वा ब्रा श्रुत्वाचार्येभ्यो मेधावी ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकस्तस्मिन्महीयत आत्मभूत भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद्ब्रह्मसंसदि ।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते
तदानन्त्याय कल्पत इति ॥ १७ ॥

यः (जनः) प्रयतः (पवित्रःसन्) परमम् (उत्कृष्टं) गुह्यं (गोप्यं) इमं (उ ब्रह्मसंसदि (ब्राह्मणसभायां) श्राद्धकाले वा श्रावयेत्, तत् (श्राद्धं श्रवणं वा) श (अनन्तफलोत्पत्तये) कल्पते (संपद्यते) ॥ १७ ॥

जो पुरुष इस परम गुह्य ग्रन्थको पवित्र हो ब्राह्मणोंकी सभामें अथवा श्र सुनाता है उसका श्राद्ध वा श्रवण अनन्त फलवाला होता है अनन्त फलवाला हो

यः कश्चिदिमं ग्रन्थं परमं प्रकृष्टं गुह्यं गोप्यं श्रावयेद् ग्रन्थतोऽर्थतः णानां संसदि ब्रह्मसंसदि प्रयतः शुचिर्भूत्वा श्राद्धकाले वा श्रावयेद् भु

नचिकेताद्वारा प्राप्त [को नाचिकेत कहते हैं] और नचिकेताके प्रति उ तीन वल्लीरूप उपाख्यानको जो वैदिक होनेके कारण सनातन-चिरन्तन है, क कहकर तथा आचार्योंसे सुनकर मेधावी पुरुष ब्रह्म ही लोक है उस ब्रह्मलोक मान्वित होता है अर्थात् सबका आत्मभूत हो उपास्य होता है ऐसा अर्थ है ॥ १

जो कोई पुरुष इस परम-उत्कृष्ट और गुह्य-गोपनीय ग्रन्थको पवित्र होकर ब्रा

सत्यानन्दीदीपिका

सनातन ब्रह्मका प्रतिपादक होनेसे यह उपाख्यान भी सनातन है । 'यद्ब्रह्म तथा लोक्यते ज्ञायते इति सोऽयं ब्रह्मलोकः' 'जो ब्रह्म अभिन्नरूपसे ही जाना जात ब्रह्मलोक है' अर्थात् 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' (ब्रह्मवेत्ता ब्र ही है) यह ब्रह्मविद्की महिमा है ॥ १६ ॥

यमराज और नचिकेताके ...

श्राद्धमस्यानन्त्यायानन्तफलाय कल्पते संपद्यते । द्विर्वचनम् अध्यायपरिसमाप्त्यर्थम् ॥ १७ ॥

ङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये तृतीयवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ ३ ॥

इति कठोपनिषदि प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

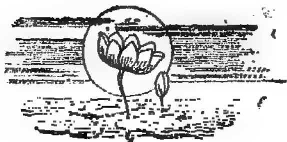
में अथवा श्राद्धकालमें भोजन करने बैठे ब्राह्मणोंके प्रति पाठमात्र और अर्थका
ा है उसका वह श्राद्ध अनन्त फलवाला होता है । अध्याय परिसमाप्त्यर्थं यह
नन्त्याय कल्पते' यह वाक्य दो बार कहा गया है ॥ १७ ॥

कठोपनिषद्के प्रथमाध्यायकी तृतीयवल्लीका स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
कृत भाष्यानुवाद समाप्त ॥ १-३ ॥

सत्यानन्दीदीपिका

करनेसे उनसे जन साधारण भी लाभ उठाकर मानव जीवन सफल कर सकता है ।
ालमें शब्दतः और अर्थतः श्रवण करानेसे प्रेतात्माओंको भी अलभ्य लाभ होता
स मन्त्रसे यह भी सिद्ध होता है कि श्राद्ध वैदिक है केवल स्मार्त नहीं ॥ १७ ॥

कठोपनिषद्के प्रथमाध्यायकी तृतीयवल्लीकी स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
कृत-सत्यानन्दीदीपिका समाप्त ॥ १-३ ॥



अथ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमा वल्ली

आत्मदर्शनका विघ्न इन्द्रियोंकी बहिर्मुखता

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या, इत्
कः पुनः प्रतिबन्धोऽग्र्याया बुद्धेर्येन तदभावादात्मा न दृश्यत इति त
नकारणप्रदर्शनार्था वल्ल्यारभ्यते। विज्ञाते हि श्रेयःप्रतिबन्धकारणे त
नाय यत्न आरब्धुं शक्यते नान्यथेति—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्म
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

स्वयम्भूः (स्वयमेव भवति इति स्वयंभूः-स्वतन्त्रः परमेश्वरः) खानि
याणि) पराञ्चि (पराणि बाह्यवस्तुनि अञ्चन्ति गच्छन्ति इति पराङ्मुखानि)
(हननं कृतवान्) तस्मात् (कारणात्) पराङ् (शब्दादिबाह्यविषयान्) प
अन्तरात्मन् (अन्तरात्मानं) न [पश्यति] कश्चिद् (धीरः) अमृतत्वं (निःश्रे
इच्छन्, आवृत्तचक्षुः (सर्वविषयेभ्यः प्रत्यावृत्तसर्वेन्द्रियः सन्) प्रत्यगात्मानं (ब्रह्मस
ऐक्षत (पश्यति) ॥ १ ॥

स्वयंभू - परमात्माने इन्द्रियोंको बहिर्मुखकर हिंसितकर दिया है, इस
बाह्यविषयोंको देखता है अन्तरात्माको नहीं, अमृतत्वकी इच्छा करते जिसने
इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे रोक दिया है ऐसा कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्म
पाता है ॥ १ ॥

सम्पूर्ण भूतोंमें छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाशित नहीं होता वह तो एका
ही देखा जाता है, ऐसा पहले (कठ० १।३।१२ में) कहा गया है। अब
प्रश्न होता है कि एकाग्र बुद्धिका ऐसा कौन प्रतिबन्धक है जिससे कि उस एका
का अभाव होनेसे आत्मा दिखाई नहीं देता ? अतः आत्म-अदर्शनके कारण
लानेके लिए यह वल्ली आरम्भ की जाती है, क्योंकि श्रेयके प्रतिबन्धक
ज्ञान होनेपर ही उसकी निवृत्तिके लिए यत्न आरम्भ किया जा सकता है अन्यथा

सत्यानन्दीदीपिका

पहले (कठ० १।३।१२) इस मन्त्रमें ब्रह्मात्मसाक्षात्कारमें अनादि अवि

पराञ्चि परागञ्चन्ति गच्छन्तीति । खानि तदुपलक्षितानि श्रोत्रादीनीन्द्रि
ाणि खानीत्युच्यन्ते । तानि पराञ्च्येव शब्दादिविषयप्रकाशनाय प्रवर्तन्ते
ादेवं स्वाभाविकानि तानि व्यतृणद्धिंसितवान्हननं कृतवानित्यर्थः
सौ ? स्वयंभूः परमेश्वरः स्वयमेव स्वतन्त्रो भवति सर्वदा न परतन्त्र इति
ात्पराङ् पराग्रूपाननात्मभूताञ्शब्दादीन्पश्यत्युपलभत उपलब्धा, नान्तर
न्तरात्मानमित्यर्थः । एवं स्वभावेऽपि सति लोकस्य कश्चिन्नद्याः प्रतिस्रोत
नमिव धीरो धीमान्विवेकी प्रत्यगात्मानं प्रत्यक्चासावात्मा चेति प्रत्य
ा । प्रतीच्येवात्मशब्दो रूढो लोके नान्यस्मिन् । व्युत्पत्तिपक्षेऽपि तत्रैव
ब्दो वर्तते । 'यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह । यच्चास्य संतत
स्तस्मादात्मेति कीर्त्यते ।' इत्यात्मशब्दव्युत्पत्तिस्मरणात् । तं प्रत्यगात्मा

जो पराक्-बाहरकी ओर अञ्चन-गमन करती हैं वे 'पराञ्चि' कही जाती हैं । 'ख
को कहते हैं, उनसे उपलक्षित श्रोत्रादि इन्द्रियाँ 'खानि' कही जाती हैं । वे बहि
होकर ही शब्दादि विषयोंको प्रकाशित करनेके लिए प्रवृत्त होती हैं, क्योंकि स्वभा
ी ऐसी हैं, इसलिए उन्हें हिंसित कर दिया है अर्थात् उनका हननकर दिया है ऐस
है । वह कौन है ? स्वयम्भू-परमेश्वर जो स्वतः ही सर्वदा स्वतन्त्र है परतन्त्र नहीं है
ए उपलब्धा सर्वदा पराक्-बहिःस्वरूप अनात्मभूत शब्दादि विषयोंको देखता-उप
करता है 'नान्तरात्मन्' अन्तरात्माको नहीं, ऐसा अर्थ है ।

यद्यपि लोकका ऐसा स्वभाव है तो भी कोई धीर बुद्धिमान् विवेकी पुरुष ही नदीके
प्रवाहके विपरीत दिशामें प्रवृत्त कर देनेके समान [इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे
र] उस अपने आत्माको देखता है । प्रत्यक्-जो सम्पूर्ण विषयोंका साक्षी औ
ा हो वही प्रत्यगात्मा है । लोकमें आत्मशब्द 'प्रत्यक्' में रूढ है अन्यमें नहीं
त्ति पक्षमें भी आत्मशब्दकी प्रवृत्ति उसीमें-प्रत्यक् अर्थमें ही है । जैसा कि 'यच्चावि
प्नोति०' (वह सबको व्याप्त करता है, ग्रहण करता है, जो इस लोकमें विषयोंको
ा है तथा इसका सर्वदा सद्भाव है इसलिए यह आत्मा कहा जाता है) इस
: आत्मशब्दकी व्युत्पत्तिमें स्मृति है । उस प्रत्यगात्माने अपने स्वरूपको 'ऐक्षत
अर्थात् देखता है ऐसा अर्थ है । वैदिक प्रयोगमें कालका नियम न होनेके कारण

सत्यानन्दीदीपिका

जैसे कार्तवीर्य आदिने नर्मदा आदि नदीं प्रवाहका विपरीत प्रवर्तन किया है वैसे
अनेक जन्मसंसिद्ध पुरुष इन्द्रियोंकी विषयोंकी ओर स्वाभाविक प्रवृत्तिरूप नदी

स्वभावमैक्षदपश्यत्पश्यतीत्यर्थः, छन्दसि कालानियमात्। पश्यतीत्युच्यते
ावृत्तचक्षुरावृत्तं व्यावृत्तं चक्षुः श्रोत्रादिकमिन्द्रियजातमशेषविषयाद्यस्य
वृत्तचक्षुः स एवं संस्कृतः प्रत्यगात्मानं पश्यति। न हि बाह्यविषयालोच
त्वं प्रत्यगात्मेक्षणं चैकस्य संभवति। किमर्थं पुनरित्थं महता प्रयास
भावप्रवृत्तिनिरोधं कृत्वा धीरः प्रत्यगात्मानं पश्यति इत्युच्यते, अमृतत
ारणधर्मत्वं नित्यस्वभावतामिच्छन्नात्मन इत्यर्थः ॥ १ ॥

य तावत्स्वाभाविकं परागेवानात्मदर्शनं तदात्मदर्शनस्य प्रतिबन्धकारण

ं वर्तमानकालके अर्थमें भूतकालकी क्रिया 'ऐक्षत' का प्रयोग हुआ है। वह
ता है ? इसपर कहते हैं—'आवृत्तचक्षुः' व्यावृत्तचक्षु अर्थात् जो श्रोत्रादि इ
दायको सम्पूर्ण विषयोंसे रोकनेवाला है वह आवृत्तचक्षु है। वह इस प्रकार संस्कृ
तेन्द्रिय, संस्कृतमन हुआ पुरुष प्रत्यगात्माको देखता है। एक ही पुरुषके
ह्य-विषयोंकी आलोचनपरता और प्रत्यगात्माका साक्षात्कार करना [युगपत्] ये दो
भव नहीं हैं। तो इस प्रकार महान् परिश्रमसे इन्द्रियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति
ोधकर धीर पुरुष प्रत्यगात्माको किस लिए देखता है ? इसपर कहते हैं—अमृत
रणधर्मत्व-आत्माके नित्यस्वभावत्वकी इच्छा करता हुआ [उसे देखता है
ा अर्थ है ॥ १ ॥

जो स्वभावसे ही बाह्य अनात्मदर्शन है वही आत्मदर्शनके प्रतिबन्धकी कार
ा अविद्या है, क्योंकि वह उस-आत्मदर्शके प्रतिकूल है। इसके अतिरिक्त अविद्य

सत्यानन्दीदीपिका

ादि में जो आत्मशब्दका प्रयोग है वह तादात्म्याभिमानके कारण है, अतः मु
ीं है, 'प्रतीच्येवात्मशब्दो रूढो लोके' इस प्रकार प्रत्यक्में ही आत्मशब्द रूढ़ कह
व्युत्पत्तिपक्षोऽपि' इस प्रकार यौगिकवृत्तिसे भी दिखलाते हैं—'यच्चाप्नो
ाप्लृव्यासौ' इस धातु अर्थके अनुगमसे आत्मशब्दका अर्थ व्यापक है। 'यस्मादाद
हरति स्वात्मन्येव सर्वम्' जो अपनेमें सबको संहार करे, इससे आत्मा लयका अधि
ा जाता है। 'कार्यका कारणमें लय' इस अन्य व्युत्पत्तिसे आत्मामें जगत्की उपाद
रणता उपलब्ध होती है। 'विषयानत्तीत्यात्मा' जो विषयोंको भोगता है, इ
चैतन्याभाससे आत्मा उपलब्धा सिद्ध होता है। इस जगत्को जिससे निरन
ता प्राप्त हो अर्थात् अस्ति, भाति और प्रियता प्राप्त हो, इससे अधिष्ठानसे अति

त्प्रतिकूलत्वात्। या च पराक्त्वेवाविद्योपप्रदर्शितेषु दृष्टादृष्टेषु भोगेषु तृष्णा
ाविद्यातृष्णाभ्यां प्रतिबद्धात्मदर्शनाः—

अविवेकी और विवेकीका अन्तर

पराचः कमाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ।२।

।] बालाः (अविवेकिनः) पराचः (बाह्यान्) कामान् (विषयान्) अनुयन्ति
न्ति) ते विततस्य (बहुकालव्यापिनः) मृत्योः, पाशं (बन्धं) यन्ति (प्राप्नु-
अथ (तस्मात्) इह (लोके) धीराः (विवेकिनः) ध्रुवम् अमृतत्वं (मोक्षं)
(ज्ञात्वा) अध्रुवेषु (अस्थिरेषु विषयेषु) न प्रार्थयन्ते (इच्छन्ति)
पि] ॥ २ ॥

ज्ञ पुरुष बाह्यविषयोंका अनुगमन करते हैं, वे मृत्युके सर्वत्र फैले वा बहुकाल
ाश-बन्धनमें पड़ते हैं। किन्तु विवेकीपुरुष अमरत्वको ध्रुव-निश्चल जानकर
अनित्य पदार्थोंमेंसे किसीकी इच्छा नहीं करते हैं।। २ ॥

चो बहिर्गतानेव कामान्काम्यान्विषयाननुयन्ति अनुगच्छन्ति बाला
ास्ते तेन कारणेन मृत्योरविद्याकामकर्मसमुदायस्य यन्ति गच्छन्ति
विस्तीर्णस्य सर्वतो व्याप्तस्य पाशं पाश्यते बध्यते येन तं
न्द्रियादिसंयोगवियोगलक्षणम् । अनवरतजन्ममरणजरारोगाद्य-
ातं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । यत एवमथ तस्माद्धीरा विवेकिनः

ृष्ट और अदृष्ट बाह्य भोगोंमें जो तृष्णा है, अविद्या और तृष्णा इन दोनों हीं से
आत्मदर्शनवाले—

-अपलपज्ञ मन्दमति पुरुष पराक्-बाह्यकामनाओं-बाह्यकाम्यविषयोंका ही अनुगमन
इसी कारणसे वे अविद्या, काम और कर्म समुदाय रूप मृत्युके वितत-विस्तर्ण-
ाप्त पाशको प्राप्त होते हैं। जिससे जीव पाशित होता है बांधा जाता है उस
दके संयोग वियोगरूप पाशमें पड़ते हैं, निरन्तर जन्म, मरण, जरा, रोग आदि
र्थ समुदायको प्राप्त होते हैं ऐसा अर्थ है। यतः ऐसा है, इसलिए धीर-विवेकी

सत्यानन्दीदीपिका

दयो येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः। येषां सक्तस्तु भूतात्मा न स्मरेच्च परं पदम्।
जो शब्द, स्पर्श आदि पांच विषय हैं वे अनर्थरूप ही स्थित हैं, जिसमें आसक्त
ात्मरूप परं पदको भी स्मरण नहीं करते) 'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय

प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणममृतत्वं ध्रुवं विदित्वा, देवाद्यमृतत्वं
तु प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणं 'न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' (बृह
इति ध्रुवम् । तदेवंभूतं कूटस्थमविचाल्यममृतत्वं विदित्वाध्रुवेषु स
नित्येषु निर्धार्य ब्राह्मणा इह संसारेऽनर्थप्राये न प्रार्थयन्ते किंचिदपि
दर्शनप्रतिकूलत्वात् । पुत्रवित्तलोकैषणाभ्यो व्युत्तिष्ठन्त्येवेत्यर्थः ॥ २

यद्विज्ञानान्न किंचिदन्यत्प्रार्थयन्ते ब्राह्मणाः कथं तदधिगम इत्यु

पुरुष प्रत्यगात्मस्वरूपमें स्थितिरूप अमृतत्वको ध्रुव-निश्चल जानकर-देवादि
तो अध्रुव है किन्तु यह प्रत्यगात्मस्वरूपमें स्थितिरूप अमृतत्व तो 'न कम
न कर्मसे बढ़ता है और न घटता है) इस प्रकार ध्रुव है। इस प्रकारके
चाल्य अमृतत्वको जानकर वे ब्राह्मण-ब्रह्मवेत्ता लोग इस अनर्थ प्रायः सं
सर्व अनित्य पदार्थोंमेंसे किसीकी इच्छा नहीं करते, क्योंकि वे सब तो
दर्शनके विरोधी हैं, इससे वे पुत्र, वित्त और लोकैषणाओंसे ऊपर उठ जाते
सबका त्यागकर देते हैं ऐसा अर्थ है ॥ २ ॥

ब्रह्मवेत्ता लोग जिसका विज्ञान हो जानेसे किसी अन्य पदार्थकी काम
उस ब्रह्मका बोध किस प्रकार होता है ? इसपर कहते हैं—

सत्यानन्दीदीपिका

भोगोंमें शोभनाध्यास होनेपर इनमें आसक्त पुरुष पुनः पुनः जन्म-मरण
प्राप्त होता है। प्रारब्धसे प्राप्त भोगायतन-स्थूलशरीर (अन्नमयकोश) क
त्यागकर प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन चारों कोश
जीव लोकान्तरमें पहुँचकर वहाँ सुखादि भोगार्थ तत्तत् कर्मानुसार तत्त
स्थूल शरीरको प्राप्त करता है, उसका नाम जन्म है मृत्युलोकमें प्रा
त्यागको मृत्यु-मरण कहते हैं, यह आधिभौतिक मृत्यु है, इसी प्रकार दुष्
दुर्बलावस्थाको आधिदैविक और बुद्धिनाशको आध्यात्मिक मृत्यु कहते हैं
त्प्रणश्यति' (गीता २।६३) इत्यादि स्मृति प्रमाणसे भी यही सिद्ध होता है
सञ्चित दुःखका हेतु है।

परन्तु जो भाग्यवान् धीर पुरुष हैं, 'एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह
याश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्तिः (
(निश्चय उस आत्माको जानकर वे ब्राह्मण पुत्रैषणा वित्तैषणा एवं लोकै
कर अनन्तर भिक्षाचर्य करते हैं-संन्यास ग्रहण करते हैं) इस प्रकार वे

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शाँश्च मैथुनान् ।

एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते । एतद्वै तत् ॥३॥

न एतेनैव (ज्ञानस्वरूपेण आत्मना) रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शान् मैथुनान् ानाति (विस्पष्टं जानाति लोकः) अत्र (अस्मिन् लोके) [अविज्ञेयं] किं यते ? [न किञ्चिदपीत्यर्थः) एतत् वै तत् ॥ ३ ॥

स ज्ञानस्वरूप आत्माके द्वारा पुरुष रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और मैथुन जन्य निश्चय पूर्वक जानता है [उस आत्मासे अविज्ञेय] इस लोकमें और क्या रह ? [तुझ नचिकेतासे पुछा हुआ] वह तत्त्व यही है ॥ ३ ॥

न विज्ञानस्वभावेनात्मना रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्मैथुननि- ुखप्रत्ययान्विजानाति विस्पष्टं जानाति सर्वो लोकः । ननु नैवं प्रसिद्धि- आत्मना देहादिविलक्षणेनाहं विजानामीति । देहादिसंघातोऽहं विजा- तु सर्वो लोकोऽवगच्छति । न त्वेवम् । देहादिसंघातस्यापि शब्दादि- ाविशेषाद्विज्ञेयत्वाविशेषाच्च न युक्तं विज्ञातृत्वम् । यदि हि देहादि- रूपाद्यात्मकः सन्रूपादीन्विजानीयाद्बाह्या अपि रूपादयोऽन्योन्यं स्वं च विजानीयुः । न चैतदस्ति, तस्माद्देहादिलक्षणांश्च रूपादीनेतेनैव देहा-

---

ोक जिस विज्ञान स्वरूप आत्मासे [चक्षु आदि करणों द्वारा] रूप, रस, गन्ध र्श और मैथुन जनित सुख प्रत्ययोंको स्पष्टतया जानता है [वह ब्रह्म है] शङ्का- ोकमें ऐसी कोई प्रसिद्धि नहीं है कि मैं देहादिसे विलक्षण आत्मा द्वारा शब्दादि जानता हूँ । सब लोग तो यही समझते हैं कि देहादि संघातरूप ही मैं शब्दादि जानता हूँ । समाधान-ऐसा तो नहीं है, क्योंकि देहादि संघात भी समानरूपसे रूप तथा विज्ञेयरूप है, अतः उसे ज्ञाता मानना उचित नहीं है, यह देहादि रूपाद्यात्मक होकर भी रूपादिको जाने तो बाह्य रूपादि भी परस्पर एक

सत्यानन्दीदीपिका

ं तदधिगमः' क्या वेदप्रतिपादित होनेसे धर्मके समान परोक्षरूपसे अथवा दिके समान प्रत्यक्षरूपसे ब्रह्मका अधिगम होता है ? इसका 'यद्विज्ञानान्न' त्तर कहते हैं—आत्मा ब्रह्म है, इस प्रकार ब्रह्मका अपरोक्षरूपसे ज्ञान ही सम्य- 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' ऐसी श्रुति भी है । इस बातको आगे 'येन', इस मन्त्रसे

दि संघातसे अतिरिक्त चैतन्यस्वरूप आत्मासे ही यह सब दृश्यजात वेद्य है सा अविवेकी पुरुषोंमें प्रसिद्ध नहीं है. तथापि यह बात [illegible]

दिव्यतिरिक्तेनैव विज्ञानस्वभावेनात्मना विजानाति लोकः। यथ
दहति सोऽग्निरिति तद्वत्। आत्मनोऽविज्ञेयं किमत्रास्मिँल्लोके प
किंचित्परिशिष्यते। सर्वमेव त्वात्मना विज्ञेयम्। यस्यात्मनोऽविज्ञे
त्परिशिष्यते स आत्मा सर्वज्ञः। एतद्वै तत्। किं तद्यन्नचिकेतसा
भिरपि विचिकित्सितं धर्मादिभ्योऽन्यद्विष्णोः परमं पदं यस्मात्परं
एतदधिगतमित्यर्थः ॥ ३ ॥

अतिसूक्ष्मत्वाद्दुर्विज्ञेयमिति मत्वैतमेवार्थं पुनः पुनराह—

आत्मज्ञकी निःशोकता

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥

स्वप्नान्तं (स्वप्नमध्यं) जागरितान्तं (जाग्रद्दृश्यं) च उभौ (स्वप्नज

दूसरेको तथा अपने अपने रूपको जान लेंगे, किन्तु बात ऐसी नहीं है। अत
स्वरूप रूपादिको देहादिसे भिन्न विज्ञानस्वभाव इसी आत्मासे ही जा
प्रकार लोहा जिसके द्वारा जलता है वह अग्नि है, उसी प्रकार। आत्मासे
संसारमें क्या शेष रह जाता है। जिस आत्मासे कुछ भी अविज्ञेय शेष न
वह आत्मा सर्वज्ञ है और यही वह है। वह कौन है? जिस विषयक
प्रश्न किया है तथा जो देवादिसे भी सन्देहास्पद है जो धर्मादिसे
परम पद है जिससे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है वही यह [ब्रह्मपद] अधिगत
अर्थ है ॥ ३ ॥

अतिसूक्ष्म होनेसे दुर्विज्ञेय है ऐसा मानकर उसी अर्थको पुनः पुन
कहते हैं—

सत्यानन्दीदीपिका

तस्यास्ति वेत्ता' (श्वेता० ३।१९) ऐसा श्रुति भी कहती है। इसलि
यत्' शब्दसे सिद्धवत् परामर्श विरुद्ध नहीं है। देहादिके विज्ञातृत्वके अभ
इत्यादि भाष्यसे दो हेतुओंको कहते हैं—गुण गुणीके अभेद होनेसे देहादि
रूप ही देखा जाता है, अतः 'दैहिकाः शब्दादयो न स्वात्मानमन्यं च विज
त्वाद् दृश्यत्वाच्च बाह्यवत्' (देहसम्बन्धी शब्द, स्पर्शादि न अपनेको और
जान सकते हैं, क्योंकि उनमें भी शब्दादित्व और दृश्यत्व समान है जैसे
[illegible]

आत्मना) अनुपश्याति [तं] महान्तं विभुम् आत्मानं मत्वा (विज्ञाय) धीरो ाति ॥ ४ ॥

वप्नदृश्य और जाग्रद्दृश्य ये दोनों जिसके द्वारा देखे-जाने जाते हैं, उस महान् विभु को जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥ ४ ॥

वप्नान्तं स्वप्नमध्यं स्वप्नविज्ञेयमित्यर्थः तथा जागरितान्तं जागरितमध्यं ितविज्ञेयं च; उभौ स्वप्नजागरितान्तौ येनात्मनानुपश्यति लोक इति र्ववत्। तं महान्तं विभुमात्मानं मत्वावगम्यात्मभावेन साक्षादहमस्मि ्मेति धीरो न शोचति ॥ ४ ॥

ंच—

आत्मज्ञकी निर्भयता

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत् ॥५॥

इमं मध्वदं (कर्मफलभुजं) जीवम् आत्मानं भूतभव्यस्य (भूतभाविनः) (ईशितारम्) अन्तिकात् (समीपे) वेद (जानाति [सः] ततः (तद्विज्ञानात्) ुप्सते (न गोपायितुमिच्छति आत्मानम् अन्यतो भयेन) एतद्वैतत् ॥ ५ ॥

। अधिकारी पुरुष इस कर्मफल भोक्ता एवं प्राणादिके धारयिता आत्माको उसके ःहकर भूत, भविष्यत् (तथा वर्तमान) के शासकरूपसे जानता है, वह वैसा हो जानेके अनन्तर उस आत्माकी रक्षाकी इच्छा नहीं करता, निश्चय यही मतत्त्व है ॥ ५ ॥

प्नान्त-स्वप्नमध्य अर्थात् स्वप्नावस्थामें ज्ञेय तथा जागरितान्त-जाग्रत् मध्य जाग्रत् अवस्थामें जानने योग्य इन दोनों स्वप्न और जाग्रत्के ज्ञेय पदार्थोंको 'स आत्माके द्वारा देखते हैं [वही ब्रह्म है] इस वाक्यकी अन्य सारी व्याख्या के समान करनी चाहिए। उस महान् विभु आत्माको जानकर 'यह परमात्मा सा आत्मभावसे साक्षात् अनुभवकर धीर पुरुष शोक नहीं करता ॥ ४ ॥

ा—

सत्यानन्दीदीपिका

: मन्त्र आत्माको स्वयं प्रकाश एवं द्रष्टा कहता है। जाग्रत् और स्वप्नावस्थामें ा अनुभव आत्मासे ही होता है, आत्मा स्वप्नदृश्यका भी प्रकाशक है, इसमें पुरुषः स्वयंज्योतिः' (बृह० ४-३-९) इत्यादि श्रुति भी प्रमाण है। महान्त- 'विविधं भवत्यस्मादिति विभुः' इस [illegible]

यः कश्चिदिमं मध्वदं कर्मफलभुजं जीवं प्राणादिकलापस्य धा
त्मानं वेद विजानात्यन्तिकादन्तिके समीप ईशानमीशितारं भूतभव्यः
यस्य ततस्तद्विज्ञानादूर्ध्वमात्मानं न विजुगुप्सते न गोपायितुमिच्छ
त्वात्। यावद्धि भयमध्यस्थोऽनित्यमात्मानं मन्यते तावद्गोपायितु
त्मानम्। यदा तु नित्यमद्वैतमात्मानं विजानाति तदा किं कः कुतो
तुमिच्छेत्। एतद्वै तदिति पूर्ववत्॥ ५॥

यः प्रत्यगात्मेश्वरभावेन निर्दिष्टः स सर्वात्मेत्येतद्दर्शयति—

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत॥ एतद्वै तद

जो कोई इस मध्वद-कर्मफल भोक्ता और जीव-प्राणादि समुदायके
आत्माको समीपसे भूत, भविष्यत् (एवं वर्तमान) तीनों कालोंके शासक
है। वह ऐसा विज्ञान हो जानेके अनन्तर उस आत्माकी रक्षा करना न
क्योंकि वह अभयको प्राप्त हुआ होता है। जब तक भयके मध्यमें स्थित
आत्माको अनित्य मानता है तबतक आत्माकी रक्षा करना चाहता है। ज
नित्य-अद्वैत जान लेता है, तब कौन किसको कहाँसे रक्षा करनेकी इच
निश्चय यही वह आत्मतत्त्व है, ऐसा पूर्ववत् समझना चाहिए॥ ५॥

जो प्रत्यगात्मा यहाँ ईश्वरभावसे निर्दिष्ट है वह सबका आत्मा है,
मन्त्रसे दिखलायी जाती है—

सत्यानन्दीदीपिका

कर्मफल भोक्तृत्व और प्राणादिकलाप धारयितृत्वसे उपलक्षित 'त्व
आत्माको कालत्रय वस्तु परिच्छेद्यके ईशितृत्वसे उपलक्षित 'तत्' पद लक्ष्य
है अर्थात् जब दोनोंका अभेदरूपसे जो साक्षात्कार कर लेता है तब वह आ
मरणादि भयसे रक्षा करना नहीं चाहता। इस बातको प्रकारान्तरसे 'किञ्च'
'मधु-कर्मफलमत्तीति मध्वदः तं मध्वदम्' इस व्युत्पत्तिसे 'मध्वदम्' कर्मफल
प्राणादिकरण कलापके अध्यक्षको तीनों कालोंके शासिताके रूपसे 'मैं ही
प्रकार अभेदरूपसे जानता है, तब वह अज्ञान जनित भयादि द्वन्द्वसे मुक
है, 'अभयं वै प्राप्तोऽसि जनक' (बृह० ४।२।४) इत्यादि श्रुति है। इसी बात
इस भाष्यसे अन्वय-व्यतिरेकद्वारा स्पष्ट करते हैं। नचिकेताने देवादिसे

(उद्धृत) पूर्व (प्रथम) तपसः जातम् (उत्पन्नम्) अद्भ्यः (पञ्चभूतेभ्यः)
ग्रे) अजायत, गुहां (सर्वप्राणिहृदयं) प्रविश्य तिष्ठन्तं भूतेभिः (कार्यकरण-
ह तिष्ठन्तं सन्तं) यः व्यपश्यत (पश्यति) एतत् वै तत् ॥ ६ ॥

मुमुक्षु पहले तपसे उत्पन्न हुए [हिरण्यगर्भ] को जो कि जलादि भूतोंसे पहले
ा है, भूतों सहित बुद्धिरूप गुहामें स्थित हुआ देखता है, निश्चय यही वह
६ ॥

कश्चिन्मुमुक्षुः पूर्वं प्रथमं तपसो ज्ञानादिलक्षणाद्ब्रह्मण इत्येतज्जात-
हिरण्यगर्भम्; किमपेक्ष्य पूर्वमित्याह—अद्भ्यः पूर्वमप्सहितेभ्यः पञ्चभूते-
केवलाभ्योऽद्भ्य इत्यभिप्रायः, अजायत उत्पन्नो यस्तं प्रथमजं देवादि-
मुत्पाद्य सर्वप्राणिगुहां हृदयाकाशं प्रविश्य तिष्ठन्तं शब्दादीनुपलभमानं
तैः कार्यकरणलक्षणैः सह तिष्ठन्तं यो व्यपश्यत यः पश्यतीत्येतत् । य
ति स एतदेव पश्यति यत्तत्प्रकृतं ब्रह्म ॥ ६ ॥

—

ा प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी ।
हां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत ॥ एतद्वै तत् ॥ ७ ॥

वतामयी (सर्वदेवतात्मिका) अदितिः प्राणेन (हिरण्यगर्भरूपेण) सम्भवति

कोई मुमुक्षु पूर्व-प्रथम तपसे-ज्ञानादिलक्षण ब्रह्मसे उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भको
पेक्षा पूर्व उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भको ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—जलसे पूर्व
सहित पाँचों भूतोंसे पहले उत्पन्न हुआ है न कि केवल जलसे पूर्व, ऐसा
है । उस प्रथम उत्पन्न हिरण्यगर्भको देवादि शरीरोंको उत्पन्नकर सब
गुहा-हृदयाकाशमें प्रविष्ट हो देहेन्द्रियरूप भूतों सहित शब्दादि विषयोंको
नुभव करते स्थित हुएको जो देखता है । वास्तवमें जो इस प्रकार देखता है
देखता है जो कि यह प्रकृत ब्रह्म है ॥ ६ ॥

—

सत्यानन्दीदीपिका

ं पश्यति स एतदेव पश्यति यत्तत्प्रकृतं ब्रह्म, 'तपसे प्रथम उत्पन्न हिरण्यगर्भको
है वह प्रकृत ब्रह्मको देखता है' ऐसा सम्बन्ध है । शङ्का—यहाँ हिरण्यगर्भका
दिसे भिन्न प्रकृत ब्रह्मका दर्शन कैसे हो सकता है ? समाधान—जैसे सुवर्णसे

(अभिव्यज्यते) या च भूतेभिः (भूतैः सहिता) व्यजायत (उत्पन्ना) गुहां प्र
तिष्ठन्तीं [तां यः पश्यति] एतद् वै तत् ॥ ७ ॥

जो देवतामयी अदिति प्राणरूप-हिरण्यगर्भरूपसे प्रकट होती है तथा जो बुद्
ुहामें प्रविष्ट होकर रहनेवाली और भूतोंके साथ ही उत्पन्न हुई है [उसे देखो] नि
ही वह तत्त्व है ॥ ७ ॥

या सर्वदेवतामयी सर्वदेवतात्मिका प्राणेन हिरण्यगर्भरूपेण परस्माद्ब्रह्म
संभवति शब्दादीनामदनाददितिस्तां पूर्ववद्गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीमदिति
ामेव विशिनष्टि— या भूतेभिः भूतैः समन्विता व्यजायत उत्पन्ना इत्येतत् ।

अरणिस्थ अग्निमें ब्रह्मदृष्टि

किंच—

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः ।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ।एतद्वै त

जो सर्व देवतामयी-सर्वदेवस्वरूपा अदिति प्राण-हिरण्यगर्भरूपसे परब्रह्मसे उ
ोती है । शब्दादि विषयोंका अदन-भक्षण करनेसे वह अदिति है । बुद्धिरूप ग
र्ववत् प्रविष्ट होकर स्थित हुई उस अदितिको [देखो] उस अदितिको ही विशे
रते हैं—जो भूतों सहित अर्थात् भूतोंसे समन्वित हो उत्पन्न हुई है, वही तेरा
त्त्व है ॥ ७ ॥

सत्यानन्दीदीपिका

इस मन्त्रमें हिरण्यगर्भका ही विशेषणान्तरसे निरूपण किया गया है । 'यो ब्रह्
ंदधाति पूर्वम्' (श्वेता० ६।१८) 'स प्राणमसृजत (प्र० ६।४) (जिस परमा
हले हिरण्यगर्भको उत्पन्न किया) इत्यादि श्रुति परमात्मासे ही हिरण्यगर्भकी उ
हती है । यह हिरण्यगर्भ सूक्ष्म भूतों सहित परमेश्वरसे उत्पन्न होता है । यही स
्थूल प्रपञ्चका कारण है और स्थूल जगत् इसका कार्य है इसी बातको 'स प्रा
ृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः०' (उस परमात्माने
ाण-हिरण्यगर्भको उत्पन्न किया, उस प्राणसे श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृ
ादि उत्पन्न हुए) यह श्रुति भी कहती है । प्रलयकालमें समस्त कार्यजगत्का
भक्षण-अपनेमें लय करनेके कारण हिरण्यगर्भ अदिति कहलाता है और देवतादि
प्रपञ्चको उत्पन्न करनेसे भी अदिति कहलाता है । स्थूल और सूक्ष्म सारे ज
व्यापार हिरण्यगर्भसे होता है, अतः इसे प्राणशब्दसे कहा गया है । अन्तःकरण
जीव तादात्म्यापन्न होनेके कारण हिरण्यगर्भकी बुद्धिरूप गुहामें स्थिति कही गई है

णिभिः (गर्भवतीभिः) सुभृतः (परितोषितः) गर्भ इव अरण्योः (उत्तरा-
) निहितः स्थितः (यः) जातवेदाः अग्निः (जातं सर्वं वेत्ति इति जातवेदाः)
जागृवद्भिः (जागरणशीलैः योगिभिः) हविष्मद्भिः (हवनसामग्रीसम्पन्नैः)
(प्रतिदिनम्) ईड्यः (स्तुत्यः) एतत् वै तत् ॥ ८ ॥

णी स्त्रियों द्वारा भलीभाँति पोषित हुए गर्भके समान जो जातवेदा-अग्नि
: अधर दोनों अरणियोंके मध्यमें स्थित है तथा जो प्रमादरहित एवं होम
क योगी पुरुषों द्वारा नित्यप्रति स्तुतिके योग्य है यही वह ब्रह्म है ॥ ८ ॥

धियज्ञ उत्तराधरारण्योर्निहितः स्थितो जातवेदा अग्निः पुनः सर्वहविषां
त्मं च योगिभिर्गर्भ इव गर्भिणीभिरन्तर्वत्नीभिरगर्हितान्नपानभोजना-
। गर्भः सुभृतः सुष्ठु सम्यग्भृतो लोक इवेत्थमेवर्त्विग्भिर्योगिभिश्च
येतत् । किंच दिवे दिवेऽहन्यहनीड्यः स्तुत्यो वन्द्यश्च कर्मिभिर्योगिभि-
द्ये च जागृवद्भिर्जागरणशीलवद्भिरप्रमत्तैरित्येतत्, हविष्मद्भिराज्या-
निभावनावद्भिश्च मनुष्येभिर्मनुष्यैरग्निरेतद्वै तत्तदेव प्रकृतं ब्रह्म ॥८॥

प्राणमें ब्रह्मदृष्टि

श्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
देवा सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥९॥

ातवेदा-अग्नि अधियज्ञरूपसे उत्तर और अधर अरणियोंमें निहित अर्थात्
और समस्त हव्य पदार्थोंका भोक्ता है, अध्यात्मरूपमें जैसे लोकमें गर्भिणी
स्त्रियाँ शुद्ध अन्न पान भोजनादि द्वारा अपने गर्भका बहुत अच्छी तरह पोषण-
ी हैं, वैसे ही याज्ञिकों तथा योगीजनों द्वारा भलीभाँति धारण किया जाता
त आदि होम सामग्री युक्त कर्मपरायण एवं जागरणशील प्रमादशून्य याज्ञिक
ध्यानभावनायुक्त योगियों द्वारा क्रमशः यज्ञ और हृदय देशमें वह अग्नि
द्य एवं स्तुत्य है । ऐसा जो (विराट्रूप) अग्नि है, वही निश्चय यह प्रकृत
८ ॥

सत्यानन्दीदीपिका

ो अरणियोंका सम्बन्ध दिखाकर ज्ञानयोग और कर्मयोगका रहस्य बताया गया

सूर्यः यतः (यस्मात्) उदेति, यत्र च (यस्मिन् च) अस्तं गच्छति। तं अर्पिताः (तम् आश्रित्य स्थिताः) तत् (तं सर्वदेवाश्रयं) कश्चन (कोऽ अत्येति (अतिक्रामति) एतत् वै तत् ॥ ९ ॥

जहांसे सूर्य उदित होता है और जहाँ वह अस्त होता है, उस प्राणात्मा आदि और वागादि) सभी देवता अर्पित हैं, उसका कोई भी उल्लङ्घन नहीं क यह वही प्रकृत ब्रह्म है ॥ ९ ॥

यतश्च यस्मात्प्राणादुदेति उत्तिष्ठति सूर्योऽस्तं निम्लोचनं यत्र यस्मि प्राणेऽहन्यहनि गच्छति तं प्राणमात्मानं देवा अग्न्यादयोऽधिदैवं वाग ध्यात्मं सर्वे विश्वेऽरा इव रथनाभावर्पिताः संप्रवेशिताः स्थितिकाले ब्रह्मैव। तदेतत् सर्वात्मकं ब्रह्म। तदु नात्येति नातीत्य तदात्मकतां गच्छति कश्चन कश्चिदपि। एतद्वै तत् ॥ ९ ॥

यद् ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वर्तमानं तत्तदुपाधित्वादब्रह्मवदवभासमान न्यत्परस्माद् ब्रह्मण इति मा भूत्कस्यचिदाशङ्केतीदमाह—

जिससे-जिस प्राणसे – हिरण्यगर्भसे सूर्य उदित-उदय (सम्मुख होता है और जिसी प्राणमें प्रतिदिन अस्तभाव (दृष्टिसे ओझल) को प्राप्त उस प्राणात्मामें स्थितिकालमें अग्नि आदि अधिदैव और वाणी आदि अध देवगण इस प्रकार अर्पित हैं अर्थात् संप्रविष्ट हैं जिस प्रकार रथकी नाभिमें स यह प्राण भी ब्रह्म है। वही यह सर्वात्मक ब्रह्म है। उसका अतिक्रमण कोई करता अर्थात् उस ब्रह्मके तदात्मभावको पार-त्यागकर कोई भी उससे अन्य नहीं होता, यही वह ब्रह्म है ॥ ९ ॥

जो ब्रह्मासे लेकर स्थावर पर्यन्त सभी भूतोंमें वर्तमान है और भिन्न धियोंके कारण अब्रह्मवत् अवभासित हुआ है। वह संसारी जीव परब्रह्मसे ऐसी किसीको शङ्का न हो इसलिए यमराज इस प्रकार कहते हैं—

सत्यानन्दीदीपिका

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति' (तैत्ति इस श्रुतिके अनुसार 'यतः' उस तटस्थकारण ईश्वरसे सूर्योपलक्षित सारा ज होता है। उसमें ही स्थिति और लयभावको प्राप्त होता है। इस प्रकार का अभेद प्रतिपादित है। 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छा० ६।७।१) कालमें यह जीव सद्ब्रह्मके साथ सम्पन्न-एकताको प्राप्त होता है) इत्यादि

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १० ॥

(अस्मिन् लोके, संघाते जीवे वा) यत् (आत्मवस्तु) अमुत्र (परलोके, परमात्मनि
(तदेव) (तथा) अमुत्र (परलोके) यत् (आत्मवस्तु) इह (अस्मिन् लोकेऽपि
(अनुगतं न ततो भिन्नं) यः (जनः) इह (आत्मचैतन्ययोः) नाना इव
भेदात् भिन्नमिव) पश्यति सः (भेददर्शी) मृत्योः मृत्युं (मरणात् मरण
ो मरणं) प्राप्नोति) ॥ १० ॥

तत्त्व इस (देहेन्द्रियसंघात) में भासता है वह अन्यत्र (देहादिसे परे) भी है
वस्तु अन्यत्र है वही इसीमें है, जो मनुष्य इस तत्त्वमें नाना-सा देखता है वह
युको प्राप्त होता है ॥ १० ॥

वेह कार्यकरणोपाधिसमन्वितं संसारधर्मवदवभासमानमविवेकिनां तदेव
ामुत्र नित्यविज्ञानघनस्वभावं सर्वसंसारधर्मवर्जितं ब्रह्म । यच्चामुत्रा-
त्मनि स्थितं तदेवेह नामरूपकार्यकरणोपाधिमनुविभाव्यमानं नान्यत् ।
त्युपाधिस्वभावभेददृष्टिलक्षणयाविद्यया मोहितः सन् य इह ब्रह्मण्यना-
रस्मादन्योऽहं मत्तोऽन्यत्परं ब्रह्मेति नानेव भिन्नमिव पश्यत्युपलभते

इस लोकमें कार्यकरण (देहेन्द्रिय) रूप उपाधिसे युक्त हो अविवेकियोंको
ियुक्त भास रहा है स्व-स्वरूपमें स्थित वही ब्रह्म अन्यत्र-इस देहादि संघातसे
विज्ञानघन स्वरूप और सम्पूर्ण संसार धर्मोंसे रहित है । तथा जो अमुत्र-उस
रमात्मभावमें स्थित है वही इस लोकमें नाम, रूप एवं कार्यकरणरूप उपाधिके
ासमान आत्मतत्त्व है अन्य नहीं है ।

होनेपर भी जो पुरुष उपाधिके स्वभाव और भेददृष्टिरूप अविद्यासे मोहित
भिन्नरूप-एकरूप ब्रह्ममें 'मैं परमात्मासे भिन्न हूँ और परमात्मा मुझसे भिन्न हैं'

सत्यानन्दीदीपिका

भावको और मोक्षार्थी केवल जीवब्रह्मैक्यज्ञान द्वारा ब्रह्मभावको प्राप्त
इस प्रकार कोई भी ब्रह्मभावका त्यागकर अन्यत्वको प्राप्त नहीं हो सकता,
वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति ब्रह्ममें ही सर्वात्मभाव दिखलाती है ॥ ६ ॥
ाह कहा गया है कि ब्रह्म सर्वात्मक है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि भिन्न-भिन्न
उपाधियुक्त चैतन्य जीव संसारी है और ब्रह्म असंसारी है, अतः अल्पज्ञ

। मृत्योर्मरणान्मरणं मृत्युं पुनः पुनर्जन्ममरणभावमाप्नोति प्रतिपद्यते । तर
था न पश्येत् । विज्ञानैकरसं नैरन्तर्येणाकाशवत्परिपूर्णं ब्रह्मैवाहमस्मि
श्येदिति वाक्यार्थः ॥ १० ॥

प्रागेकत्वविज्ञानादाचार्यागमसंस्कृतेन—

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥११॥

मनसा एव इदम् आप्तव्यम् (उपलभ्यम्) इह (ब्रह्मणि) किञ्चन (किञ्चिद
ना (भेदः) नास्ति, यः इह नाना इव पश्यति, स मृत्योः मृत्युं गच्छति, एतद्वैतद् ।

मनसे ही यह तत्त्व प्राप्त करने योग्य है, इस ब्रह्मतत्त्वमें नाना कुछ भी नहीं
ो पुरुष इसमें नानात्व-सा देखता है, वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है, यही
त्त्व है ॥ ११ ॥

स प्रकार नाना इव-भिन्न-सा उपलब्ध करता है वह मृत्युसे मृत्युको अर्थात् पुनः
न्ममरणभावको प्राप्त होता है, अतः ऐसी उपलब्धि नहीं करनी चाहिए, किन्
वधिरूपसे आकाशके समान परिपूर्ण और विज्ञानैकरस ब्रह्म हूँ' ऐसा देखे-अनुभव क
ही वाक्यका अर्थ है ॥ १० ॥

एकत्व विज्ञान होनेसे पूर्व आचार्य और शास्त्र उपदेशसे संस्कृत हुए—

सत्यानन्दीदीपिका

जैसे एक घटको एक स्थानसे अन्यत्र ले जानेसे सब स्थानोंमें वही सर्वगत मह
टाकाशरूपसे प्राप्त होता है, वैसे ही सर्वगत एक अद्वितीय चिन्मय आत्मा अन्तःकर
पाधिके गमनागमन होनेपर भी सर्वत्र समानरूपसे प्राप्त है । अन्तःकरणादि उपाधि
दहष्टि अनिवर्चनीय अविद्याके विना नहीं हो सकती, इससे जीव और ईश्वरका भे
ाविद्यक-औपाधिक होनेसे कल्पित है, स्वरूपसे दोनोंमें भेद नहीं है । जैसे स
ननात्मस्वभाव प्रत्यगात्मामें नानात्वका अध्यारोपकर 'स्वप्नदृष्ट पदार्थ सत्य हैं' इस
त्यत्वाभिनिवेशसे व्यवहार करता है, वैसे जाग्रत्में भी नानात्वका अध्यार
जाग्रत् जगत् सत्य है' इस प्रकार सत्यत्व अभिनिवेशसे व्यवहार करता है । उसके
'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिण
 नित्य अखण्ड एक रस आत्माको जो मन्दमति अनित्य परिच्छिन्न जन्मरणादि
ानता है, उस आत्माके यथार्थस्वरूपका अपहरण करनेवाले उस चौरने क

नसेदं ब्रह्मैकरसमाप्तव्यमात्मैव नान्यदस्तीति । आप्ते च नानात्व
थापिकाया अविद्याया निवृत्तत्वादिह ब्रह्मणि नाना नास्ति किञ्चनाणु
पे । यस्तु पुनरविद्यातिमिरदृष्टिं न मुञ्चति नानेव पश्यति स मृत्योर्मृ ह
श्रेव स्वल्पमपि भेदमध्यारोपयन्नित्यर्थः ॥ ११ ॥

हृदयपुण्डरीकस्थ ब्रह्म

नरपि तदेव प्रकृतं ब्रह्माह—

कृत मनके द्वारा ही यह एक रस ब्रह्म 'एक मात्र आत्मा है उससे भिन्न औ
है' इस प्रकार प्राप्त करने योग्य है। इस प्रकार उसकी प्राप्ति हो जानेप
भेददृष्टिका स्थापित करनेवाली अविद्याके निवृत्त हो जानेसे इस ब्रह्मतत्त्वर्मे
प्रणुमात्र भी नानात्व नहीं रहता। किन्तु जो पुरुष अविद्यारूप तिमिरदृष्टिक
हीं करता प्रत्युत नानात्व-सा देखता है। इस प्रकार एक अद्वितीय ब्रह्ममें अल्पत्व
भेद आरोपित करता है वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता ही है ॥ ११ ॥

र भी उस प्रकृत ब्रह्मका ही वर्णन करते हैं—

सत्यानन्दीदीपिका

रस ब्रह्ममें ज्ञातृज्ञेयभाव कैसे हो सकता है? तो उसके उत्तरमें भगवान
ने 'प्रागेकत्वविज्ञानात्' ऐसा कहा है, अर्थात् आत्मैकत्व ज्ञानसे पूर्व अज्ञके
ल्पत भेदको लेकर कहा गया है, अतः कोई दोष नहीं है। अनात्मभावापन्न
स्कृत और आत्मभावापन्न संस्कृत कहा जाता है। 'नेह नानाऽस्तिकिञ्चन'
ात्म्यापन्न ब्रह्ममें नाना-भेद नहीं है) इस प्रकार आरोप और अपवादके अधि-
ब्रह्मका अनुभव करना चाहिए।

ं नास्त्येव नोत्पन्नं नो स्थितं जगत्। चित्तप्रपञ्चमित्याहुर्नास्ति नास्त्येव सर्वदा ॥
प्रपञ्च है ही नहीं, न उत्पन्न हुआ है और न जगत् विद्यमान है, यह चित्त ही
अतः विद्वान् सर्वदा ऐसा कहते हैं कि प्रपञ्च है ही नहीं।

ञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः। मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥

(मा० का० १७)

ञ्च यदि होता तो निवृत्त हो जाता इसमें संदेह नहीं; किन्तु वास्तवमें यह द्वैत
मात्र-मिथ्या है, परमार्थतः तो अद्वैत ही है) अतः निष्प्रतियोगिक ब्रह्ममात्रमें
भी द्वैतप्रपञ्च सत्यरूपसे वा मिथ्यारूपसे 'अस्ति-नास्ति' ऐसा भ्रम नहीं है।
अद्वितीय ब्रह्ममें नाना-सा देखनेवाला जन्म-मरणरूप भयको प्राप्त होता है।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ एतद्वै तत् ।

अङ्गुष्ठमात्रः (अङ्गुष्ठपरिमाणः) पुरुषः (आत्मा) मध्ये आत्मनि (श
तिष्ठति' (सः) भूतभव्यस्य (अतीतस्य अनागतस्य च) ईशानः (शास
(तत्स्वरूपपरिज्ञानात् परं) न जुगुप्सते (आत्मानं न कुतश्चित् गोपायितु
एतद्वै तत् ॥ १२ ॥

जो अङ्गुष्ठपरिमाण पुरुष शरीरके मध्यमें स्थित है, उसे भूत, भविष्य
वर्तमान] का शासक जानकर वह उस आत्मस्वरूपके ज्ञान होनेके कारण अप
किसीसे भी रक्षा करना नहीं चाहता, निश्चय यही वह (ब्रह्मतत्त्व) है ॥ १

अङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठपरिमाणः । अङ्गुष्ठपरिमाणं हृदयपुण्डरीकं त
न्तःकरणोपाधिरङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठमात्रवंशपर्वमध्यवर्त्यम्बरवत्, पुरुषः
सर्वमिति मध्य आत्मनि शरीरे तिष्ठति यस्तमात्मानमीशानं भू
विदित्वा न तत इत्यादि पूर्ववत् ॥ १२ ॥

किंच

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ॥ एतद्वै तत् ।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः (आत्मा) अधूमकः (धूमरहितं) ज्योतिः (ते
भूतभव्यस्य ईशानः स एव (पुरुषः) अद्य (वर्तते) श्वःउ (श्वोऽपि) सः (
वर्तिष्यते एतद्वै तत् ॥ १३ ॥

अङ्गुष्ठमात्र-अङ्गुष्ठपरिमाण, हृदयकमल अङ्गुष्ठके समान परिमाणवा
हृदयकमलके छिद्रमें अवस्थित अन्तःकरणोपाधिक अङ्गुष्ठमात्र-अङ्गुष्ठके स
माणवाले बाँस पर्वके मध्यवर्ती आकाशके समान अङ्गुष्ठमात्र परिमाणव
शरीरके मध्यमें स्थित है, उससे सारा शरीर पूर्ण है, इसलिए वह पुरुष है
भविष्यत् कालके शासक आत्माको जानकर [तत्त्ववित् अपनेको सुरक्षित
इच्छा नहीं करता] इत्यादि शेष पदकी पूर्ववत् व्याख्या करनी चाहिए ॥ १

सत्यानन्दीदीपिका

शरीरान्तर्वर्ती हृदयकमलमें प्रत्यग्भावसे स्थित और लोक प्रसिद्ध जीवका
'तत्त्वमसि' यह श्रुतिवाक्य उसमें ब्रह्मभावका विधान करता है, यद्यपि जीव
[illegible]

अङ्गुष्ठमात्र पुरुष धूमरहित ज्योतिके समान है, यह भूत, भविष्यत्का शास
आज (वर्तमानकालमें) है और वह कल-भविष्यत्में भी रहेगा और निश्च
ब्रह्मतत्त्व है ॥ १३ ॥

ङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकोऽधूमकमिति युक्तं ज्योतिष्परत्वात्
लक्षितो योगिभिर्हृदय ईशानो भूतभव्यस्य स नित्यः कूटस्थोऽद्येदानीं
वर्तमानः स उ श्वोऽपि वर्तिष्यते नान्यस्तत्समोऽन्यश्च जनिष्यत इत्यर्थः
ायमस्तीति चैक इत्ययं पक्षो न्यायतोऽप्राप्तोऽपि स्ववचनेन श्रुत्या प्रत्यु
क्षणभङ्गवादश्च ॥ १३ ॥

भेदापवाद

रपि भेददर्शनापवादं ब्रह्मण आह—

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
एवं धर्मान्पृथक्पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥ १४ ॥

अङ्गुष्ठमात्र पुरुष धूमरहित ज्योतिके समान है । मूलमन्त्रमें जो 'अधूमकः' पद
नपुंसकलिङ्ग) ज्योतिः परक अर्थात् ज्योतिः शब्दका विशेषण होनेके कारण
' ऐसा पढ़ना चाहिए । जो योगियोंको हृदयमें लक्षित होता है, वह भूत एवं
ा शासिता नित्य कूटस्थ आज-इस समय प्राणियोंमें वर्तमान है और वही कल
अर्थात् उसके समान कोई अन्य पुरुष नहीं होगा, इससे कोई कहते हैं कि
है' [१।१।२०] मन्त्र में उक्त यह पक्ष न्यायसे अप्राप्त है, तो भी उसका
मत-क्षणभङ्गवादका खण्डन श्रुतिने स्ववचनसे कर दिया है ॥१३॥

ं जो भेददृष्टि की जाती है उसका अपवाद-निषेध श्रुति फिर भी कहती है—

सत्यानन्दीदीपिका

मस्तीति चैके' इस द्वितीय पक्षके उत्तररूपसे उत्तरवाक्यका 'किञ्च' से
करते हैं । मन्त्रमें 'ज्योतिः' शब्द नपुंसकलिङ्ग है, अतः उसका विशेषण
रण पुल्लिङ्ग 'अधूमकः' पद भी 'अधूमकम्' इस प्रकार नपुंसकलिङ्गसे
होना युक्त है । मन्त्रमें 'उ' पदका अर्थ 'अपि' है । भूत, भविष्यत्का शासिता
ह मैं हूँ' ऐसा अपने हृदयमें मुमुक्षुजन अनुभव करते हैं । वह इदानीं ब्रह्मासे
म्बपर्यन्त सभी प्राणियोंमें वर्तमान है वही कल भी रहेगा । 'नायमस्तीति
ा यह शून्यवाद और क्षणभङ्गवादपक्ष 'कृतनाशाकृताभ्यागम' दोषरूप लौकिक

दुर्ग (दुर्गस्थाने) वृष्टं उदकं यथा पर्वतेषु (निम्नप्रदेशेषु) विधावति
या धावति) एवं धर्मान् (आत्मनो भिन्नान्) पृथक् पश्यन् (जानन्)
(तद्दर्शनान्तरमेव) विधावति (प्राप्नोति)

जिस प्रकार ऊँचे स्थानमें बरसा जल पर्वतोंमें (पर्वतीय निम्नदेशोंमें) बह जाता है, उसी प्रकार आत्मासे भिन्न धर्मोंको प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न उन्हींको ही प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

यथोदकं दुर्गे दुर्गमे देश उच्छ्रिते वृष्टं सिक्तं पर्वतेषु पर्वतव प्रदेशेषु विधावति विकीर्णं सद्विनश्यति एवं धर्मानात्मनो भिन्नान्पृथक् प्रतिशरीरं पश्यंस्तानेव शरीरभेदानुवर्तिनोऽनुविधावति। शरीरभेदमे पुनः प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥ १४ ॥

यस्य पुनर्विद्यावतो विध्वस्तोपाधिकृतभेददर्शनस्य विशुद्धवि समद्वयमात्मानं पश्यतो विजानतो मुनेर्मननशीलस्यात्मस्वरूपं कथ त्युच्यते—

अभेददर्शनकी विशेषता

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥ १५

जिस प्रकार दुर्ग-दुर्गम स्थान अर्थात् ऊँचाईपर बरसा जल पर्वतों-प प्रदेशोंमें विधावति-फैलकर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार धर्मो-आत्माओंक शरीरमें भिन्न-भिन्न देखता हुआ पुरुष उन्हीं-शरीरभेदोंका अनुसरण क जाता है अर्थात् पुनः पुनः शरीर भेदको प्राप्त होता है ऐसा अर्थ है ॥ १४ ।

उपाधिकृत भेददृष्टिको नष्ट करनेवाले, विशुद्ध विज्ञानघनैकरस अद्वित देखनेवाले विद्वान् विज्ञानी मननशील उस मुनिका आत्मस्वरूप कैसा होत कहा जाता है—

सत्यानन्दीदीपिका

स्वरूप भूत आत्माके अज्ञानके कारण यह अज्ञ जीव अद्वितीय चिन्मय । नात्व-शरीरभेदसे आत्मभेदको देखता है, इससे वह भिन्न-भिन्न शरीर-जन्मम होता है, यही इसका विनाश है। ऐसा 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिह विनष्टिः (केन० २।५) (इस मनुष्यजन्ममें यथोक्त साधन सम्पन्न ब्रह्मविद्या क्षुने स्वातिरिक्त विदिताविदित कल्पनातीत निष्प्रतियोगिक स्वसत्तामात्र ब्रह्म रूपसे यदि अनुभव किया तो सत्य-स्वतः प्रकाशरूप ब्रह्मको प्राप्त होता है, यह

हे गौतम ! यथा शुद्धं उदकं शुद्धे (स्वच्छे उदके) आसिक्तं (निक्षिप्तं सत्) तादृ
शुद्धमेव) भवति, विजानतः (एकत्वं पश्यतः) मुनेः (मननशीलस्य) आत्म
द्वितीयब्रह्मस्वरूपम्) एव भवति ॥ १५ ॥

जिस प्रकार शुद्ध जलमें डाला हुआ शुद्ध जल वैसा ही हो जाता है, उसीप्रका
म ! आत्मस्वरूपको जाननेवाले मुनिका आत्मा भी हो जाता है ॥ १५ ॥

यथोदकं शुद्धे प्रसन्ने शुद्धं प्रसन्नमासिक्तं प्रक्षिप्तमेकरसमेव नान्यथा तादृ
भवत्यात्माप्येवमेव भवत्येकत्वं विजानतो मुनेर्मननशीलस्य हे गौतम
कुतार्किकभेददृष्टिं नास्तिककुदृष्टिं चोज्झित्वा मातृपितृसहस्रेभ्योऽपि हितै
वेदेनोपदिष्टमात्मैकत्वदर्शनं शान्तदर्पैरादरणीयमित्यर्थः ॥ १५ ॥

भगवतःकृतौ कठोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये प्रथमवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ २-१ ॥

स प्रकार शुद्ध-स्वच्छ जलमें आसिक्त-प्रक्षिप्त शुद्ध-स्वच्छजल उसके साथ मिलक
हो जाता है अर्थात् वैसा ही हो जाता है-तद्रूप ही हो जाता है उससे विपरीत
में नहीं रहता, उसी प्रकार हे गौतम ! एकत्वको जाननेवाले मुनी-मननशील
आत्मा भी वैसा ही हो जाता है। इसलिए कुतार्किककी भेददृष्टि और नास्तिक
ष्टिका परित्यागकर सहस्रों माता-पिताओंसे भी अधिक हितैषी वेदके द्वारा उपदेश
त्मैकत्व दर्शनका ही अभिमान रहित हो आदर करना चाहिए ऐसा अर्थ है ।१५।

कठोपनिषद्के द्वितीयाध्यायकी प्रथमवल्लीका 'स्वामी सत्यानन्द सरस्वती'
कृत भाषानुवाद समाप्त ॥ २-१ ॥

सत्यानन्दीदीपिका

चतुर्थवल्लीके १०, ११, १४ मन्त्रोंमें बद्धजीवकी दशाका दिग्दर्शन कराया गया
इस मन्त्रमें मुक्तात्माके विषयमें कहा जाता है — जैसे आकाशसे पतित वृष्टि जल
में पड़ तद्रूप हो जाता है उससे पृथक् दिखाई नहीं देता, क्योंकि वह पृथिवीकी
आदि उपाधिसे रहित है, वैसे ही 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' विमुक्तश्च विमुच्यते'
आत्मैकत्वज्ञान द्वारा अविद्या आदि उपाधिसे रहित हो मुक्त हो जाता है।
नि हित्वा स्वयं केवलरूपतः । य आस्ते कपिशार्दूल ब्रह्म स ब्रह्मवित्स्वयम् ॥
न और अदर्शनका त्यागकर जो स्वयं केवलरूपसे स्थित है, हे कपिशार्दूल !
वित् स्वयं ब्रह्म है) 'केवलब्रह्ममात्रत्वान्नास्त्यनात्मेति निश्चिनु' (केवल
है, अतः अनात्मा है ही नहीं, ऐसा निश्चयकर) 'वेदार्थः परमद्वैतं नेतरत्सुर-
सुरपुङ्गव ! वेदका अर्थ परम अद्वैत है उससे भिन्न नहीं अर्थात् वेदका तात्पर्य
ब्रह्ममें है अन्यमें नहीं) 'एकमेवाद्वितीयम्, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानाऽस्ति किञ्चन'
ति ब्रह्मातिरिक्तका निषेध करती हैं' अतः ब्रह्मवित् ब्रह्मस्वरूप ही है ॥१५॥

द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयावल्ली

प्रकारान्तरसे ब्रह्मानुसंधान

पुनरपि प्रकारान्तरेण ब्रह्मतत्त्वनिर्धारणार्थोऽयमारम्भो दुर्विज्ञेयत्वाद् ब्रह्म

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।

अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ॥ एतद्वै तत् ॥ १ ।

एकादशद्वारं पुरं (देहम्) अवक्रचेतसः (अवक्रं अकुटलं चेतो विज्ञानमस्येति ि
ाकाशरूपस्य) अजस्य [तम्] अनुष्ठाय (ध्यात्वा) न शोचति, विमुक्तः (बन्धर
ान्) विमुच्यते (कैवल्यं प्राप्तो भवति) एतद्वै तत् ॥ १ ॥

उस नित्य विज्ञानस्वरूप अजन्मा-आत्माका एकादश द्वारवाला पुर-नगरी है,
ात्माका सम्यग्ज्ञान पूर्वक ध्यानकर पुरुष शोक नहीं करता और वह मुक्त हुआ ही
ो जाता है। निश्चय यही वह (ब्रह्म) है ॥ १ ॥

पुरं पुरमिव पुरम् । द्वारपालाधिष्ठात्राद्यनेकपुरोपकरणसम्पत्तिदर्
च्छरीरं पुरम्। पुरं च सोपकरणं स्वात्मनासंहतस्वतन्त्रस्वाम्यर्थं दृष्टम्;
ुरसामान्यादनेकोपकरणसंहतं शरीरं स्वात्मनासंहतराजस्थानीयस्वाम्यर्थं
ुमर्हति।

तच्चेदं शरीराख्यं पुरमेकादशद्वारमेकादश द्वाराण्यस्य सप्त
ण्यानि नाभ्या सहार्वाञ्चि त्रीणि शिरस्येकं तैरेकादशद्वारं पुरम्। कस्या

ब्रह्म अतिदुर्विज्ञेय है, अतः पुनरपि ब्रह्मतत्त्वका प्रकारान्तरसे निश्चय करनेके
ाह आगेका ग्रन्थ (वल्ली) आरम्भ किया जाता है—

[यह शरीररूप] पुर-पुर नगरके समान होनेसे पुर कहलाता है। द्वार
अधिष्ठाता आदि अनेकों पुर सम्बन्धी उपकरण-सामग्री दिखाई देनेके कारण शरी
ै। और जिस प्रकार सम्पूर्ण साधन सामग्री सहित प्रत्येक पुर अपने असंहत-अस
वतन्त्र स्वामीके उपभोगार्थ देखा जाता है, उसी प्रकार पुरसे सादृश्य होनेके क
नेक साधन सामग्री सम्बद्ध यह शरीर भी अपने असंहत-असम्बद्ध राजस्थानीय
स्वामीके लिए होना चाहिए।

सत्यानन्दीदीपिका

आत्मतत्व अतिदुर्विज्ञेय है अत उसे प्रकारान्तरसे कहा जाता है. इसमें प

क्रियारहितस्यात्मनो राजस्थानीयस्य पुरधर्मविलक्षणस्य । अवक्र-
क्रमकुटिलमादित्यप्रकाशवन्नित्यमेवावस्थितमेकरूपं चेतो विज्ञानमस्ये-
स्तस्यावक्रचेतसो राजस्थानीयस्य ब्रह्मणः । यस्येदं पुरं तं परमेश्वरं
मनुष्ठाय ध्यात्वा, ध्यानं हि तस्यानुष्ठानं सम्यग्विज्ञानपूर्वकम्, तं सर्वै-
र्मुक्तः सन्समं सर्वभूतस्थं ध्यात्वा न शोचति । तद्विज्ञानादभयप्राप्तेः
ाभावात्कुतो भयेक्षा । इहैवाविद्याकृतकामकर्मबन्धनैर्विमुक्तो भवति ।
तन्विमुच्यते पुनः शरीरं न गृह्णातीत्यर्थः ॥ १ ॥

नैकशरीरपुरवर्त्येवात्मा किं तर्हि सर्वपुरवर्ती । कथम्—

स: शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
द्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ।२।

ामक पुर एकादश द्वार-ग्यारह द्वारोंवाला है [दो श्रोत्र, दो नेत्र, दो ना-
एक मुख इस प्रकार] सात मस्तक सम्बन्धी, नाभि सहित [शिश्न और
तीन निम्नदेशीय तथा [ब्रह्मरन्ध्ररूप] एक शिरस्थ इस प्रकार इन सब द्वारों
के कारण यह पुर एकादश द्वारवाला है । यह पुर किसका है ? अजका-
विलक्षण जन्मादि छ विकाररहित राजस्थानीय आत्माका । इसके अतिरिक्त
ा-अवक्र-अकुटिल आदित्य प्रकाशके समान नित्यावस्थित एकरूप चित्त-
अवक्रचित्त है, उस अवक्रचित्तवाले राजस्थानीय ब्रह्मका [यह पुर है] ।
पुर है उस पुर स्वामी परमेश्वरका ध्यानद्वारा, क्योंकि सम्यग्ज्ञान पूर्वक ध्यान
ष्ठान है, अतः संपूर्ण एषणाओंसे मुक्त हो उस सम सर्वभूतस्थ ब्रह्मका ध्यान-
शोक नहीं करता । ब्रह्मके विज्ञानसे अभय प्राप्ति हो जानेसे शोकका अवसर न
भयदर्शन भी कहाँ हो सकता है ? अतः वह इस शरीरमें ही अविद्याकृत
र्म बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है । इस प्रकार वह मुक्त हुआ ही मुक्त होता
शरीर ग्रहण नहीं करता ॥ १ ॥

ः आत्मा तो केवल एक ही शरीररूप पुरमें नहीं है किन्तु सभी पुरोंमें
ा प्रकार ?

सत्यानन्दीदीपिका

पथ्यं वक्तव्यम्' (फिर भी पथ्य कहना चाहिये) इस न्यायसे प्रकारा-
ज्ञातव्य है । 'तत्रोपाया एव भिद्यन्ते नोपेयस्य भेदोऽस्ति' (उपाय-साधन
[illegible]

हँ्स, शुचिषत्, वसुः, अन्तरिक्षसत्, होता, वेदिषत्, अतिथिः, दुरोणसत्, वरसत्, ऋतसत्, व्योमसत्, अब्जाः गोजाः, ऋतजाः, अद्रिजाः, ऋतं, बृहत् ॥ २

वह गमन करनेवाला-आकाशमें चलनेवाला सूर्य है, वसु है, अन्तरिक्षमें वि वाला सर्वव्यापक वायु है, होता-अग्नि है, पृथिवीमें स्थित होनेसे वहवेदिषित् है, ड सोम होकर कलशमें स्थित होनेके कारण द्रोणसत् है अथवा अतिथिरूपसे घरोंमें होनेसे ब्राह्मण द्रोणसत् है, मनुष्योंमें रहनेसे नृषत् है, वरों-देवताओंमें विद्यमान कारण वरसत्, सत्य वा यज्ञमें गमन करनेसे ऋतसत् है, आकाशमें स्थित व्योमसत् है, जल, पृथिवी, यज्ञ एवं पर्वतोंसे उत्पन्न होनेवाला तथा सत्य महान् है ॥ २ ॥

हंसो हन्ति गच्छतीति। शुचिषच्छुचौ दिव्यादित्यात्मना सीदत वसुर्वासयति सर्वानिति। वाय्वात्मनान्तरिक्षे सीदतीत्यन्तरिक्षसत्। होत "अग्निर्वै होता" इति श्रुतेः। वेद्यां पृथिव्यां सीदतीति वेदिषद्। "इयं परोऽन्तः पृथिव्याः" (ऋ० सं० २।३।२०) इत्यादिमन्त्रवर्णात्। आ सोमः सन्दुरोणे कलशे सीदतीति दुरोणसत्। ब्राह्मणः अतिथिरूपेण दुरोणेषु गृहेषु सीदतीति। नृषन्नृषु मनुष्येषु सीदतीति नृषत्। वरसद् देवेषु सीदतीति, ऋतसदृतं सत्यं यज्ञो वा तस्मिन्सीदतीति। व्योः

वह गमन करता है, इसलिए 'हंस' है, शुचि-आकाशमें सूर्यरूपसे चलत इसलिए 'शुचिषत्' है, सबको व्याप्त करता है, अतः 'वसु' है, वायुरूपसे अन्तरिक्ष-अ शमें चलता है, इसलिए 'अन्तरिक्षसत्' है, 'अग्निर्वै होता' इस श्रुतिसे होता-अ कहते हैं। वेदिमें-पृथिवीमें गमन करता है, अतः 'वेदिषत्' है, क्योंकि इस विषयमे वेदि पृथिवी (यज्ञभूमि) का उत्कृष्ट मध्य भूभाग है' इत्यादि मन्त्रवर्ण है, यह आ सोम होकर दुरोण-कलशमें स्थित होता है, इसलिए 'दुरोणसत्' है अथवा ब्र अतिथिरूपसे दुरोणोंमें-घरोंमें रहता है, अतः वह 'अतिथिः दुरोणसत्' है, वह मनु

सत्यानन्दीदीपिका

'पुरम्' (पुर) इस प्रकार विशेषण देनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि एक शरीर होनेसे आत्मामें परिच्छिन्नत्व प्रसक्त होगा? इस प्रकारकी शङ्काकर आकांक्षा सत्' इत्यादि भाष्यसे उत्तरका अवतरण करते हैं। 'तु' शब्द शङ्काकी निवृत्तिके लिए

ब्रह्माण्डके विशेष-विशेष भागोंमें सर्वव्यापक ब्रह्मसत्ताका वर्णन करनेसे आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें सहायता मिलती है, इसलिए वह प्रकार इस मन्त्रमें वर्णित

न्याकाश सीदतीति व्योमसत्। अब्जा अप्सु शङ्खशुक्तिमकरादिरूपे
त इति। गोजा गवि पृथिव्यां व्रीहियवादिरूपेण जायत इति। ऋतः
ङ्गरूपेण जायत इति। अद्रिजाः पर्वतेभ्यो नद्यादिरूपेण जायत इति
त्मापि सन्नृतमवितथस्वभाव एव। बृहन्महान्सर्वकारणत्वात्। यद
देत्य एव मन्त्रेणोच्यते तदाप्यस्यात्मस्वरूपत्वमादित्यस्येत्यङ्गीकृतत्वा
णव्याख्यानेऽप्यविरोधः। सर्वव्याप्येक एवात्मा जगतो नात्मभेद इ
र्थः॥ २॥

आत्मनः स्वरूपाधिगमे लिङ्गमुच्यते—

है, अतः 'नृषद्' है, वरों-देवोंमें रहता है, वह 'वरसत्' है, व्योम-आकाशमें रहत
तः 'व्योमसत्' है। अप्-जलमें शङ्ख, सीपी, मकर आदिरूपसे उत्पन्न होता है
ए 'अब्जा' है, गो-पृथिवीमें व्रीहि यव आदिरूपसे उत्पन्न होता है, अतः 'गोजा' है
ज्ञाङ्गरूपसे उत्पन्न होता है, इसलिए ऋतजा है, नदी आदि रूपसे अद्रि-पर्वतों
होता है, अतः अद्रिजा' है, इस प्रकार सर्वात्मा होकर भी वह ऋत-अवितथस्वभाव
रूप ही है। तथा सबका कारण होनेसे बृहत्-महान् है। 'असौ वा आदित्यो हँसः
' ब्राह्मणमन्त्रके अनुसार यदि इस मन्त्रसे आदित्यका ही वर्णन किया गय
पि आदित्य [इस चराचरका] आत्मस्वरूप है, ऐसा अङ्गीकृत होनेके कारण
उस ब्राह्मण ग्रन्थकी व्याख्यासे भी अविरोध ही है। अतः इस मन्त्रका यही अर्थ
जगत्का एक ही सर्वव्यापक आत्मा है, आत्मभेद नहीं है॥ २॥

ब आत्माका स्वरूपज्ञान करानेमें लिङ्ग कहा जाता है—

सत्यानन्दीदीपिका

मैं दक्षिण, मैं उत्तर और यह सब मैं ही हूँ) इत्यादि श्रुति है। सर्वभूतोंमें
मालामें सूत्रके समान व्याप्त होनेसे ब्रह्म 'वसु' है। यज्ञमें जो प्रसिद्ध वेदि है वह
ा उत्कृष्ट भाग होनेसे और पृथिवीत्व स्वभाव होनेसे पृथिवीको वेदिशब्दसे कहा
। 'असौ वा आदित्यो हँसः शुचिषत्' इस ब्राह्मणमन्त्रसे यद्यपि आदित्यका
ोता है ब्रह्मका नहीं, तथापि 'यदाऽप्यादित्य एव' इस भाष्यसे तथा 'सूर्य आत्मा-
स्थुषश्च' इस मन्त्रसे आदित्यमण्डलसे उपलक्षित चेतन आत्माका ही यहाँ ग्रहण
कि वह सर्वात्मा है, 'सर्वभूतान्तरात्मा' ऐसी श्रुति भी है, परन्तु आदित्यमण्डल
त्मा नहीं हो सकता, 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्, आत्मैवेदं सर्वम्, एकमेवाद्वितीयम्' एकोदेवः

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥ ३ ॥

प्राणं (प्राणवायुम्) ऊर्ध्वं उन्नयति (गमयति-प्रेरयति) अपानं च (अपानव त्यक् (अधो) अस्यति (क्षिपति) मध्ये (हृदि) आसीनम् (अवस्थितं) तं भजनीयं) विश्वे (सर्वे) देवाः (चक्षुरादयः) उपासते ॥ ३ ॥

जो प्राणको ऊपरकी ओर ले जाता है और अपानको नीचेकी ओर ढकेलत यके मध्यमें अवस्थित उस वामन-भजनीयकी सब चक्षुरादि देव उपासना करते हैं

ऊर्ध्वं हृदयात्प्राणं प्राणवृत्तिं वायुमुन्नयत्यूर्ध्वं गमयति । तथापानं धोऽस्यति क्षिपति य इति वाक्यशेषः । तं मध्ये हृदयपुण्डरीकाकाश आ द्धावभिव्यक्तविज्ञानप्रकाशनं वामनं संभजनीयं सर्वे विश्वे देवाश्चक्षुरा णा रूपादिविज्ञानं बलिमुपाहरन्तो विश इव राजानमुपासते । तादर्थ्ये तव्यापारा भवन्तीत्यर्थः । यदर्था यत्प्रयुक्ताश्च सर्वे वायुकरणव्याप ऽन्यः सिद्ध इति वाक्यार्थः ॥ ३ ॥

जो हृदय देशसे प्राण-प्राणवृत्तिरूप वायुको ऊर्ध्व-ऊपरकी ओर ले जाता है, ानको नीचेकी ओर ढकेलता है । 'यः' (जो) यह पद इस वाक्यका शेष है । लाकाशके भीतर विद्यमान बुद्धिमें अभिव्यक्त विज्ञानरूप प्रकाशरूपी उस वा नीयकी चक्षु आदि सभी देव-इन्द्रियाँ रूप, रस आदि विज्ञानरूप उपहार ासना करते हैं जैसे वैश्यगण उपहारादिसे राजाकी उपासना करते हैं । वे चक्षु के लिए ही उपरतव्यापारवाले नहीं होते । अतः जिसके लिए और जिसकी प्रेर क्त हुए सब प्राण और इन्द्रियाँ व्यापारवाली होती हैं वह उनसे अन्य सिद्ध है, ार्थ है ॥ ३ ॥

सत्यानन्दीदीपिका

'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये' (कठ० १।१।२०) इस मंत्रसे पहले जो सन्देह ा गया है वह भी निर्मूल है, इसे दिखलानेके लिए 'आत्मनः' इत्यादि से देहसे माका अस्तित्व सिद्ध करते हैं—

जैसे प्रजा विविध उपहारादिसे राजाकी उपासना करती है वैसे ही रूप योंका ज्ञान संपादन करती हुई चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी आत्माकी उपासना करती ं 'सर्वे चक्षुरादिकरणव्यापाराः चेतनार्थास्तत्प्रयुक्ताश्च भवितुमर्हन्ति, जड़चेष्टात दिचेष्टावदिति' (जैसे जड़रथादिकी चेष्टा रथी सारथी आदि चेतनके लिए और उ क्त है, क्योंकि जड़की चेष्टा है वैसे ही चक्षु आदि करणोंके व्यापार भी चेतनार्थ

तच्च—

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ।। एतद्वै तत् ।। ४ ।।

शरीरस्थस्य अस्य देहिनः (देहवतः) विस्रंसमानस्य (देहं त्यजतः) देहा
्यमानस्य (विमुक्तस्य सतः) अत्र (देहे) किं परिशिष्यते ? (न किञ्चदपि
तत् ।। ४ ।।

इस शरीरस्थ देहीके भ्रष्ट हो जानेपर इस देहसे वियुक्त हो जानेपर भला इस देह
शेष रह जाता है ? [अर्थात् कुछ भी नहीं] यही वह (ब्रह्म) है ।। ४ ।।

अस्य शरीरस्थस्यात्मनो विस्रंसमानस्यावस्रंसमानस्य भ्रंशमानस्य देहिन
तः; विस्रंसनशब्दार्थमाह—देहाद्विमुच्यमानस्येति किमत्र परिशिष्य
ादिकलापे न किञ्चन परिशिष्यते । अत्र देहे पुरस्वामिविद्रवण इव पुर
ानां यस्यात्मनोऽपगमे क्षणमात्रात्कार्यकरणकलापरूपं सर्वमिदं हतबल
स्तं भवति विनष्टं भवति सोऽन्यः सिद्धः ।। ४ ।।

तथा—

इस शरीरस्थ देही-देहवान् आत्माके विस्रंसमान-अवस्रंसमान-भ्रष्ट हो जानेपर इ
दिकरण समुदायसे भला क्या शेष रह जाता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं । 'देहाद्वि
मानस्य' ऐसा कह कर श्रुति विस्रंसन शब्दका स्वयं अर्थ कहती है । नगर
के चले जानेपर जैसे पुरवासी विध्वस्त हो जाते हैं, वैसे ही इस देहसे जिस
के चले जानेपर एक क्षणमें यह कार्य-करण-शरीर-इन्द्रिय कलापरूप सबका स
न-विध्वस्त-नष्ट हो जाता है, वह इस कार्यकलापसे भिन्न ही सिद्ध होता है ।। ४ ।

सत्यानन्दीदीपिका

चक्षु आदि इन्द्रियोंसे आत्माको पृथक् सिद्धकर अब देहादि कार्यसे भी 'तच्च' से
सिद्ध करते हैं—

जैसे पुरस्वामी राजाके चले जानेपर पुरवासी अन्यत्र चले जाते हैं अथवा इतस्तत
ष्ट हो जाते हैं, वैसे शरीर-चक्षु आदि इन्द्रिय समुदाय भी । इसमें 'शरीरं चेतनशेष
मे भोगानर्हत्वाद्राजपुरवत्' (यह शरीर चेतनका शेष है, क्योंकि उसके देहसे

स्यान्मतं प्राणापानाद्यपगमादेवेदं विध्वस्तं भवति न तु तद्व्यतिरिक्तस्यापगमात्प्राणादिभिरेव हि मर्त्यो जीवतीति, नैतदस्ति—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ५ ॥

कश्चन (कश्चिदपि) मर्त्यः (मरणधर्मा मनुष्यः) प्राणेन न जीवति अपानेन [जीवति] तु (पुनः) इतरेण (तद्विलक्षणेन) जीवन्ति (प्राणान् धा यस्मिन् एतौ (प्राणापानौ) उपाश्रितौ (तदधीनतया वर्तेते ॥ ५ ॥

कोई भी मनुष्य न तो प्राणसे जीवित रहता है और न अपानसे ही, किन्तु जिसमें ये दोनों आश्रित हैं ऐसे किसी अन्यसे ही जीवित रहते हैं ॥ ५ ॥

न प्राणेन नापानेन चक्षुरादिना वा मर्त्यो मनुष्यो देहवान्कश्चन न कोऽपि जीवति न ह्येषां परार्थानां संहत्यकारित्वाज्जीवनहेतुत्वमुप स्वार्थेनासंहतेन परेण केनचिदप्रयुक्तं संहतानामवस्थानं न दृष्टं गृहादीनां तथा प्राणादीनामपि संहतत्वाद्भवितुमर्हति।

अत इतरेणैव संहतप्राणादिविलक्षणेन तु सर्वे संहताः सन्तो ज

यदि किसीका यह मत हो कि यह शरीर, प्राण अपान आदिके चले जाने हो जाता है, किन्तु उन प्राणादिसे भिन्न किसी आत्माके चले जानेसे नहीं, प्राणादिके द्वारा ही यह मनुष्य जीवित रहता है, परन्तु ऐसी बात नहीं है, [क

कोई भी मर्त्य-मनुष्य देहधारी न तो प्राणसे ही जीवित रहता है और न अथवा चक्षु आदि इन्द्रियोंसे ही, क्योंकि परस्पर मिलकर प्रवृत्त होनेवाले तथा शेष भूत अन्यके लिए होनेवाले ये इन्द्रिय आदि जीवनके हेतु नहीं हो सकते। किसी स्वतन्त्र और असंहत अन्य चेतनकी प्रेरणाके बिना गृह आदि संहत पद स्थिति नहीं देखी गई है, वैसे ही संघातरूप होनेसे-प्राणादिकी स्थिति भी स्वतन्त्र हो सकती, अतः संहतरूप ये सब प्राणादि संहत पदार्थोंसे विलक्षण किसी अन्यके

सत्यानन्दीदीपिका

'स्यान्मतम्' इससे अन्यथासिद्धिकी शङ्का करते हैं। 'नैतत्' से शङ्काका स करते हैं—

अब आत्मामें प्रकारान्तरसे प्राणादिका आश्रितत्व इस मन्त्रसे प्रतिपादन किया है। लोकमें इस अन्वय-व्यतिरेकसे यह प्रसिद्ध है कि देहमें प्राणादिके रहते जीव

दिभिः संहतावुपाश्रितौ, यस्यासंहतस्यार्थे प्राणापानादिः स्वव्यापारं र्तते संहतः सन्सः ततोऽन्यः सिद्ध इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

मरणोत्तरकालमें जीवकी गति

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ ६ ॥

गौतम ! हन्त ते (तुभ्यम्) इमं गुह्यं सनातनं ब्रह्म प्रवक्ष्यामि, आत्मा मरणं यथा भवति [तच्च प्रवक्ष्यामि] ॥ ६ ॥

गौतम ! अब मैं फिर भी तुम्हारे प्रति उस गुह्य और सनातन ब्रह्मका वर्णन तथा [ब्रह्मको न जाननेसे] मरणको प्राप्त होनेपर आत्मा जैसा हो जाता है ी बतलाऊँगा] ॥ ६ ॥

न्तेदानीं पुनरपि ते तुभ्यमिदं गुह्यं गोप्यं ब्रह्म सनातनं चिरन्तनं ामि यद्विज्ञानात्सर्वसंसारोपरमो भवति, अविज्ञानाच्च यस्य मरणं प्राप्य भवति यथा संसरति तथा शृणु हे गौतम ॥ ६ ॥

त रहते हैं-प्राण धारण करते हैं । संहत पदार्थोंसे विलक्षण जिस सत्स्वरूप रहते ही ये प्राण, अपान, चक्षु आदि संहत हो आश्रित हैं अर्थात् जिस असंहत लिए प्राण, अपान आदि संहत हो अपने (दर्शनादि) व्यापारोंको करते हुए ते हैं वह आत्मा उनसे भिन्न सिद्ध है ॥ ५ ॥

ो ! अब मैं तुम्हें फिर भी इस गुह्य-गोपनीय सनातन-चिरन्तन ब्रह्मको कहूँगा, वेज्ञानसे समग्र संसारकी निवृत्ति हो जाती है तथा जिसके विज्ञान न होनेके रणको प्राप्त होकर आत्मा जैसा होता है अर्थात् वह जिस प्रकार जन्म-मरणरूप प्राप्त होता है, हे गौतम ! उस प्रकार सुन ! ॥ ६ ॥

सत्यानन्दीदीपिका

आदि सब जिसके आश्रित हैं वह इन सबसे विलक्षण चेतन आत्मा सिद्ध है ।५। ं प्रेते विचिकित्सा'० (कठ० १।१।२०) इस मन्त्रमें प्रष्टाने परलोक विषयक अभिव्यक्त किया है, उसके निवृत्त्यर्थ 'हन्तेदानीम्' से कहते हैं । 'अन्यच्छ्रेयो प्रेयः' (कठ० १।२।१) इत्यादि मन्त्रों द्वारा यद्यपि यमराजने ब्रह्म विषयक नर्वचन किया है फिर भी नचिकेताके प्रति कहते हैं, क्योंकि ब्रह्म अतिगोपनीय इस मन्त्रमें ब्रह्मके ज्ञान और अज्ञानका फल कहा गया है अर्थात् जिस ब्रह्मके न्ममरण रूप संसारकी निवृत्ति और अज्ञानसे संसारकी प्राप्ति होती है ।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ७ ॥

अन्ये (केचन) देहिनः यथाकर्म यथाश्रुतं (स्वस्वकर्म विद्यानुसारेण) शरीरत्व शरीरग्रहणार्थं) योनिं प्रपद्यन्ते । अन्ये (देहिनः) स्थाणुं (स्थावरदेहम्) अनुसंय प्राप्नुवन्ति) ॥ ७ ॥

अपने कर्म और ज्ञानके अनुसार कितने ही देहधारी तो शरीर ग्रहणार्थ वि निको प्राप्त होते हैं और कितने ही स्थाणभावको प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

योनिं योनिद्वारं शुक्रबीजसमन्विताः सन्तोऽन्ये केचिदविद्यावन्तो मू ।द्यन्ते शरीरत्वाय शरीरग्रहणार्थं देहिनो देहवन्तः; योनिं प्रविशन्तीत्यर्थः ाणु वृक्षादिस्थावरभावमन्येऽत्यन्ताधमा मरणं प्राप्यानुसंयन्त्यनुगच्छन्ति ाकर्म यद्यस्य कर्म तद्यथाकर्म यैर्यादृशं कर्मेह जन्मनि कृतं तद्वशेनेत्येतत ा च यथाश्रुतं यादृशं च विज्ञानमुपार्जितं तदनुरूपमेव शरीरं प्रतिपद्य ।र्थः । "यथाप्रज्ञं हि संभवाः" इति श्रुत्यन्तरात् ॥ ७ ॥

अन्य कुछ अविद्यावान् मूढ (अविवेकी) देहधारी शरीर ग्रहण करनेके लिए शु रूप बीजसे संयुक्त होकर योनि-योनिद्वारको प्राप्त होते हैं अर्थात् किसी योनि श हो जाते हैं, ऐसा अर्थ है । दूसरे कोई अत्यन्त अधम पुरुष मृत्युको प्राप्त ह थाकर्म यथाश्रुतम्] स्थाणु-वृक्षादि स्थावरभावका अनुगमन करते हैं अर्था ारभावको प्राप्त होते हैं । तात्पर्य यह है कि यथाकर्म-जिसका जो कर्म है अथव जन्ममें जिसने जैसा कर्म किया है उसके अधीन हो स्थावर आदि भावको प्राप्त हो तथा यथाश्रुत अर्थात् जिसने जैसा विज्ञान (उपासना) उपार्जित किया है उस प ही शरीरको प्राप्त होते हैं, ऐसा अर्थ है । 'जन्म अपनी अपनी बुद्धिके अनुसा करता है' एक ऐसी अन्य श्रुतिसे भी यही प्रमाणित होता है ॥ ७ ॥

सत्यानन्दीदीपिका

इस मन्त्रमें 'देहिनः' इस विशेषणसे वार वार शरीर ग्रहण और उसका प्रापक ष्ठान सूचित होता है । 'मनुष्यानधिकरोति शास्त्रम्' 'वर्णाश्रमके अनुसार मनुष्यों ो कर्म करनेमें शास्त्र अधिकृत करता है' । इसलिए विहिताविहित कर्म मनुष्य से ही सम्पादित होते हैं और उन कर्मफलोंके भोगार्थ स्थूल शरीरग्रहण करनेके योनिद्वारमें प्रवेश होता है । 'भोगायतनं शरीरम्' 'यह स्थूल शरीर शुभाशुभ नित सुख, दुःख-रूप भोगोंका स्थान है' यहाँ [illegible]

ातज्ञात ब्रह्म वक्ष्यामीति तदाह—

गुह्य ब्रह्मोपदेश

एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः तदेव
क्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिँल्लोकाः श्रिताः
र्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

ा पुरुषः सुप्तेषु कामं (भोगविषयं) कामं (स्वेच्छानुसारेण) निर्मिमाणः
(सन्) जागर्ति, तत् (सः पुरुषः) एष शुक्रं (शुद्धं) तत् ब्रह्म, तत् अमृतम्
( ) उच्यते । सर्वे लोकाः तस्मिन् (परमकारणे ब्रह्मणि) श्रिताः (आश्रिताः)
कश्चिदपि तत् (ब्रह्म) न अत्येति (अतिक्रम्य न वर्तते) एतद्वै तत् ॥८॥

ादि इन्द्रियोंके सुप्त हो जानेपर जो यह पुरुष अपने इच्छित पदार्थोंको
ा हुआ जागता रहता है, वही शुक्र-शुद्ध वह ब्रह्म और वही अमृत कहा
सब लोक उसके आश्रित हैं, कोई भी उसका उल्लंघन नहीं कर सकता, निश्चय
ब्रह्म) है ॥ ८ ॥

सुप्तेषु प्राणादिषु जागर्ति न स्वपिति । कथम् ? कामं कामं तं
स्त्र्याद्यर्थमविद्यया निर्मिमाणो निष्पादयञ्जागर्ति पुरुषो यस्तदेव शुक्रं
तद्ब्रह्म नान्यद् गुह्यं ब्रह्मास्ति । तदेवामृतमविनाश्युच्यते सर्व-
किंच पृथिव्यादयो लोकास्तस्मिन्नेव सर्वे ब्रह्मण्याश्रिताः सर्वलोक-
ास्य । तदु नात्येति कश्चनेत्यादि पूर्ववदेव ॥ ८ ॥

ो यह प्रतिज्ञा की गई थी 'मैं तुझे गुह्य ब्रह्म बतलाऊँगा' अब उसे कहते हैं—
प्राणादि-चक्षु आदि इन्द्रियोंके सुप्त हो जानेपर जागता रहता है सोता
त प्रकार ? अविद्याके योगसे अपने अपने इच्छित-अभीष्ट स्त्री आदि पदार्थों
करता हुआ अर्थात् उन्हें निष्पन्न करता हुआ जो पुरुष जागता है वही शुक्र-
वह ब्रह्म है, उससे भिन्न अन्य कोई गुह्य ब्रह्म नहीं है, वही सब शास्त्रोंमें
शी कहा जाता है । किञ्च पृथिवी आदि सब लोक उसी ब्रह्मके आश्रित हैं,
भी लोकोंका कारण है, अतः उसका कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता
वह ब्रह्म है] इत्यादि पूर्ववत् समझना चाहिए ॥ ८ ॥

सत्यानन्दीदीपिका

प्राप्तको समाप्तकर अब 'यत्प्रतिज्ञातम्' इस वाक्यसे प्रकृतका प्रतिपादन

अनेकतार्किककुबुद्धिविचालितान्तःकरणानां प्रमाणोपपन्नमप्यात्मैव
ज्ञानमसकृदुच्यमानमप्यनृजुबुद्धीनां ब्राह्मणानां चेतसि नाधीयत इति त
पादन आदरवती पुनः पुनराह श्रुतिः—

आत्माका उपाधिप्रतिरूपत्व

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९

यथा एकः अग्निः भुवनं प्रविष्टः [सन्] रूपं रूपं प्रति प्रतिरूपः (तत्त
सदृशप्रकाशः) बभूव, तथा सर्वभूतान्तरात्मा एकः [एव सन्] रूपं रूपं (प्र
प्रतिरूपः (तत्तद्देहोपाध्यनुरूपः) बहिः च [स्वयमविकृत एव] (तिष्ठति)

जिस प्रकार सम्पूर्ण भुवनमें प्रविष्ट हुआ एक ही अग्नि प्रत्येक रूप (रूपवा
के अनुरूप हो जाता है, उसी प्रकार सभी भूतोंमें एक ही अन्तरात्मा उनं
अनुरूप हो रहा है तथा उनसे बाहर भी है ॥ ९ ॥

अनेक तार्किकोंकी कुबुद्धिद्वारा विचालित चित्तवाले तथा ऋजु (सरल) बु
ब्राह्मणोंके चित्तमें प्रमाणोंसे युक्त भी आत्मैकत्व विज्ञान बारम्बार उपदिष्ट हो
स्थिर नहीं होता, अतः उसके प्रतिपादनमें आदर (तात्पर्य) रखनेवाली श्रुति पु
कहती है—

सत्यानन्दीदीपिका

अभिमानी विश्वनामक जीव उनके साथ नहीं सोता किन्तु जागता रहता है, वही
वस्थामें अविद्याके द्वारा काम्यमान स्त्री आदि पदार्थोंकी रचना भी करता है, व
ब्रह्म है, 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः' यह श्रुति भी है ॥ ८ ॥

प्रत्येक प्राणीके जन्म-मरण और चक्षु आदि करण भिन्न-भिन्न हैं एवं स
साथ प्रवृत्ति भी नहीं होती तथा कोई सात्त्विक कोई राजस और कोई ताम
गोचर होते हैं, इत्यादि हेतुओंसे शरीरभेदसे आत्माका भी भेद सिद्ध होता है
सब शरीरोंमें एक आत्माका होना संभव नहीं है, इस प्रकारकी आशङ्काकर अ
भेद होनेपर सिद्ध साधन और स्वाभाविक भेद होनेपर अनैकान्तिकत्व-व
दिखलानेके लिए आरम्भकर 'अनेकतार्किक०' इत्यादि भाष्यसे कहते हैं। शास्त्र
लम्बन न कर केवल तर्कका अवलम्बन करनेवाले तार्किक कुबुद्धि कहे जाते हैं
द्वारा स्वमतोपन्यासादिसे जिनका चित्त श्रेयमार्गसे विचलित हो गया है, ऐसे
चित्तमें प्रमाण 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्तवाक्यों द्वारा प्रतिपाद्य जीवब्रह्मैक्य ज्ञा

ग्निर्यथैक एव प्रकाशात्मा सन्भुवनं भवन्त्यस्मिन्भूतानीति भुवनमयं
मिमं प्रविष्टोऽनुप्रविष्टः। रूपं रूपं प्रतिदार्वादिदाह्यभेदं प्रतीत्यर्थः, प्रतिरूपः
प्रतिरूपवान्दाह्यभेदेन बहुविधो बभूव; एक एव तथा सर्वभूतान्तरात्मा
भूतानामभ्यन्तर आत्मातिसूक्ष्मत्वाद् दार्वादिष्विव सर्वदेहं प्रति प्रविष्ट-
रूपो बभूव बहिश्च स्वेन अविकृतेन स्वरूपेणाकाशवत् ॥ ९ ॥

ान्यो दृष्टान्तः—

ायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
ःकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूप बहिश्च ॥१०॥

[एव] वायुः यथा भुवनं प्रविष्टः [सन्] रूपं रूपं प्रतिरूपः बभूव, तथा
व] सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं (प्रतिदेहं) प्रतिरूपः बहिः च (स्वेन
अविकृतः तिष्ठति) ॥ १० ॥

ाप्रकार इस लोकमें प्रविष्ट हुआ एक ही वायु प्रत्येक वस्तुके अनुरूप हुआ है,
: सब भूतोंका एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक देहके अनुरूप हुआ बाहर भी है ॥१०॥

प्रकार एक ही अग्नि प्रकाशस्वरूप होकर भी भुवनमें-'इसमें सब भूत होते
यह लोक भुवन कहा जाता है। उसी इस लोकमें अनुप्रविष्ट हुआ रूप-रूपके
त् काष्ठ आदि प्रत्येक दाह्य विशेषके प्रति प्रतिरूप-उस उस पदार्थके अनुरूप
ह्यभेदसे अनेक प्रकारका हो जाता है, उसी प्रकार सभी भूतोंका एक ही
—आन्तरिक आत्मा अतिसूक्ष्म होनेके कारण काष्ठादिमें प्रविष्ट अग्निके समान
प्रविष्ट रहनेके कारण उनके अनुरूप हो गया है तथा आकाशके समान अपने
पसे बाहर भी है ॥ ९ ॥

एक अन्य दृष्टान्त भी है—

सत्यानन्दीदीपिका

ाकी सर्वव्यापक और निर्लिप्तसत्ताका अनुभव करानेके लिए अब अग्निका
ार प्रकारान्तरसे समझाते हैं। जैसे आकाशादि पाँच तत्त्वोंमें मध्यम अग्नि-
भूतात्मक सृष्टिमें सर्वत्र व्याप्त है जब वह अग्नि प्रकट होती है तब अपने
के अनुसार दीर्घ आदि अनेक रूपोंमें प्रतीयमान (लक्षित) होती है, वैसे
द्वितीय आत्मा विभिन्न देहादि उपाधिसे नानारूपोंमें लक्षित होता है। सब
न्तरत्वमें अतिसूक्ष्मत्व हेतु है, जो वस्तु अतिसूक्ष्म होती है वह सबके आभ्यन्तर
विकारमें प्रविष्टकी विकृति हो सकती है ? इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए

वायुर्यथैक इत्यादि । प्राणात्मना देहेष्वनुप्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो त्यादि समानम् ॥ १० ॥

एकस्य सर्वात्मत्वे संसारदुःखित्वं परस्यैव तदिति प्राप्तमत इदमुच्यते

आत्माकी असङ्गता

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः

यथा सूर्यः सर्वलोकस्य चक्षुः (चक्षुर्नियन्तृत्वेन चक्षुरन्तस्थः सन् अपि) बाह्यदोषैः न लिप्यते, तथा सर्वभूतान्तरात्मा एकः [सन् अपि] लोक लिप्यते, बाह्यः (असङ्गस्वभावत्वात्) ॥ ११ ॥

जिस प्रकार सर्वलोकका चक्षु होकर भी सूर्य नेत्र सम्बन्धी बाह्यदोषोंसे लि होता, उसी प्रकार सब भूतोंका एक ही अन्तरात्मा संसार दुःखसे लिप्त नहीं प्रत्युत उससे बाह्य है ॥ ११ ॥

सूर्यो यथा चक्षुष आलोकेनोपकारं कुर्वन्मूत्रपुरीषाद्यशुचिप्रक तद्दर्शिनः सर्वलोकस्य चक्षुरपि सन्न लिप्यते चाक्षुषैरशुच्यादिदर्शननिमित्तै त्मिकैः पापदोषैर्बाह्यैश्चाशुच्यादिसंसर्गदोषैः । एकः संस्तथा सर्वभूतान्

जिस प्रकार एक ही वायु प्राणरूपसे देहोंमें अनुप्रविष्ट होकर प्रत्येक रूपके हो रहा है [उसी प्रकार सब भूतोंका एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूपके अ रहा है] इत्यादि पूर्ववत् ही समझना चाहिए ॥ १० ॥

इस प्रकार एककी ही सर्वात्मता होनेपर भाष्यानुवाद संसारके सब दुःख होना भी परमात्माको ही होता है । ऐसी शङ्का प्राप्त होती है, इसलिए जाता है—

जैसे सूर्य अपने प्रकाशसे नेत्रका उपकार करता हुआ अर्थात् मल, मूत्रादि वस्तुओंको प्रकाशित करनेसे उन्हें देखनेवाले सभी लोकोंका नेत्ररूप होकर भी अपवित्र पदार्थादिके दर्शन-निमित्तक आध्यात्मिक पापदोषों तथा अपवित्र

सत्यानन्दीदीपिका

'परमात्मा दुःखी स्यात् दुःख्यभिन्नत्वात् लोकवत्' 'परात्मा दुःखी होना क्योंकि दुःखी जीवोंसे अभिन्न है जैसे लोक (संसार) है' इस प्रकार 'एकस्य से शङ्का करते हैं—

। लोकदुःखेन बाह्यः। लोको ह्यविद्यया स्वात्मन्यध्यस्तया कामकर्मो-
ामनुभवति। न तु सा परमार्थतः स्वात्मनि। यथा रज्जुशुक्तिको-
; सर्परजतोदकमलानि न रज्ज्वादीनां स्वतो दोषरूपाणि सन्ति।
। विपरीतबुद्धयध्यासनिमित्तात्तद्दोषवद्विभाव्यन्ते। न तद्दोषैस्तेषां
वेपरीतबुद्धयध्यासबाह्या हि ते।

ात्मनि सर्वो लोकः क्रियाकारकफलात्मकं विज्ञानं सर्पादिस्थानीयं
ध्यस्य तन्निमित्तं जन्ममरणादिदुःखमनुभवति। न त्वात्मा सर्वलोका-
ान्विपरीताध्यारोपनिमित्तेन लिप्यते लोकदुःखेन। कुतः? बाह्यः
ादेव विपरीतबुद्धयध्यासबाह्यो हि स इति ॥ ११ ॥

ेवाले बाह्यदोषोंसे लिप्त नहीं होता, वह एक सब प्राणियोंका अन्तरात्मा
। लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह उससे बाहर है। लोग अपने आत्मामें
विद्या द्वारा कर्म और कर्मजनित दुःखका अनुभव करते हैं। किन्तु वह
ामार्थतः स्वात्मामें नहीं है। जैसे कि रज्जु, शुक्ति, मरुस्थल और आकाशमें
सर्प, रजत, जल और मलिनता, ये उन रज्जु, आदि में स्वाभाविक दोषरूप
न्तु संसर्गमें आये पुरुषमें विपरीत बुद्धि जनित अध्यायसे दोष प्रतीत होते
दोषोंसे वे लिप्त नहीं होते, क्योंकि वे विपरीत बुद्धि जनित अध्याससे बाहर-
ैं।

ाकार सब लोग भी अध्याससे [रज्जु आदिमें अध्यस्त] सर्पादिके समान
ामें क्रिया, कारक और फलरूप विपरीत ज्ञानका आरोपकर उस निमित्तसे
न्म-मरण आदि दुःखोंका अनुभव करते हैं, सम्पूर्ण लोकोंका अन्तरात्मा ही
ात्मा तो विपरीत अध्यारोप निमित्तके लोक दुःखसे लिप्त नहीं होता,
ससे कि वह उससे बाहर है अर्थात् रज्जु आदि के समान वह विपरीत बुद्धि
ाससे बाहर-अतीत ही है ॥ ११ ॥

सत्यानन्दीदीपिका

ात्मा तो निरविद्य एवं दुःखसाधन शून्य है, अतः वह न दुःखी है और न
जक हेतु ही है, क्योंकि रज्जु आदिके समान चेतन उपाधिस्वरूपसे अध्यास

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्

वशी (सर्वनियन्ता) यः सर्वभूतान्तरात्मा एकः [एव सन्] एकम् [रूपं बहुधा करोति, आत्मस्थं (स्वहृदयप्रकाशनं) तम् (आत्मानं) ये धीर पश्यन्ति (साक्षात् अनुभवन्ति) तेषाम् [एव] शाश्वतं सुखं [भवति] इतरेषां न

जो एक सबका नियन्ता और सब भूतोंका अन्तरात्मा अपने एकरूपको ही प्रकारका कर लेता है, अपने बुद्धिस्थ उस आत्माका जो विवेकी-पुरुष साक्षात्का हैं उन्हींको शाश्वत-नित्य सुख प्राप्त होता है अन्योंको नहीं ॥ १२ ॥

स हि परमेश्वरः सर्वगतः स्वतन्त्र एको न तत्समोऽभ्यधिको वान्यो वशी सर्वं ह्यस्य जगद्वशे वर्तते । कुतः ? सर्वभूतान्तरात्मा । यत एकमेव रसमात्मानं विशुद्धविज्ञानरूपं नामरूपाद्यशुद्धोपाधिभेदवशेन बहुधानेक यः करोति स्वात्मसत्तामात्रेणाचिन्त्यशक्तित्वात् । तमात्मस्थं स्वशरीर काशे बुद्धौ चैतन्याकारेणाभिव्यक्तमित्येतत् ।

न हि शरीरस्याधारत्वमात्मनः, आकाशवदमूर्तत्वात्; आदर्शस्थं मु

वह स्वतन्त्र और सर्वगत परमेश्वर एक है, उसके समान अथवा उससे ब कोई नहीं है, वह वशी है, क्योंकि यह सारा जगत् उसके अधीन है । किससे कि वह सब भूतोंका अन्तरात्मा है । क्योंकि जो अचिन्त्य शक्ति-सम्पन्न नित्य विशुद्ध विज्ञानस्वरूप हो अपनेको नाम, रूप आदि अशुद्ध उपाधि भेदवश अपन मात्रसे बहुधा-अनेक प्रकारका कर लेता है । उस आत्मस्थ-अपने शरीरस्थ हृदाकाश चैतन्यरूपसे अभिव्यक्त आत्माका जो विवेकी पुरुष अनुभव करते हैं उन्हींको सुख प्राप्त होता है ।

आकाशके समान अमूर्त होनेसे आत्माका आधार शरीर नहीं है अर्थात्

सत्यानन्दीदीपिका

स्वापेक्षा परका उत्कर्ष दर्शन और अपनेमें परतन्त्रता इस प्रकार की दुःखका कारण लोक प्रसिद्ध है- परन्तु वह परमात्मामें नहीं है, इसलिए प दुःखी नहीं है, अतएव परमात्माका प्राप्तिरूप परम पुरुषार्थ हो सकता है, 'किञ्च' से कहते हैं—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ (श्वेता

तमेतमीश्वरमात्मानं ये निवृत्तबाह्यवृत्तयोऽनुपश्यन्ति आचार्यागमो-
नु साक्षादनुभवन्ति धीरा विवेकिनस्तेषां परमेश्वरभूतानां शाश्वतं नित्यं
मानन्दलक्षणं भवति; नेतरेषां बाह्यासक्तबुद्धीनामविवेकिनां स्वात्मभूत-
द्याव्यवधानात् ॥ १२ ॥
च—

ोऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
त्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् १३

त्यानां (विनाशशीलानां) नित्यः (अविनाशी) चेतनानां चेतनः' यः एकः
बहूनां (संसारिणां) कामान् (अभिलषितार्थान्) विदधाति (प्रयच्छति)
तं ये धीराः अनुपश्यन्ति, तेषाम् (एव) शाश्वती शान्तिः इतरेषां न ॥१३ ॥

अनित्य पदार्थोंमें नित्यस्वरूप तथा ब्रह्मादि चेतनोंमें चेतन है, एक होकर भी
अभीष्ट प्रदान करता है। स्वबुद्धिस्थ उस आत्माका जो धीर पुरुष अनुभव
उन्हींको शाश्वती नित्य शान्ति प्राप्त होती है अन्योंको नहीं ॥ १३ ॥

योऽविनाश्यनित्यानां विनाशिनाम्। चेतनश्चेतनानां चेतयितॄणां ब्रह्मा-
णीनामग्निनिमित्तमिव दाहकत्वमनग्नीमामुदकादीनामात्मचैतन्यनि-

है। जैसे दर्पणप्रतिबिम्बित मुखका आधार दर्पण नहीं है। निवृत्त बाह्यवृत्ति
धीर-विवेकी पुरुष उस ईश्वर-आत्माको देखते हैं--आचार्य और शास्त्रके
तर साक्षात् अनुभव करते हैं, परमात्मस्वरूपताको प्राप्त हुए उन पुरुषोंको
नन्दरूप शाश्वत-नित्य सुख प्राप्त होता है, किन्तु बाह्य पदार्थोंमें आसक्त
अन्य अविवेकी पुरुषोंको यह सुख आत्मभूत होते भी अविद्यारूप व्यवधानके
प्त नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

अनित्य विनाशशीलोंमें नित्य अविनाशी है, चेतन अर्थात् ब्रह्मादि अन्य चेतयिता-
। भी चेतन है। जैसे अग्निसे भिन्न जलादि पदार्थोंमें दाहकत्व अग्निनिमित्तक

सत्यानन्दीदीपिका

विक ज्ञान, बल क्रियारूप है) यह अन्य श्रुति भी है। जब प्रकृति परमात्माके
तो प्रकृतिका विलासरूप यह सारा जगत् भी परमात्माके वशमें होना स्वाभा-
जैसे दर्पणमें प्रीतिमात्रसे 'दर्पणस्थमुख' ऐसा उपचार होता है वैसे 'धीरस्थ
ा उपचार होता है ॥ १२ ॥

सित्तमेव चेतयितृत्वमन्येषाम्, किंच स सर्वज्ञः सर्वेश्वरः कामिनां
कर्मानुरूपं कामान्कर्मफलानि स्वानुग्रहनिमित्तांश्च कामान्य एको बहून
मनायासेन विदधाति प्रयच्छतीत्येतत्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति
शान्तिरूपरतिः शाश्वती नित्या स्वात्मभूतैव स्यान्नेतरेषामनेवंविधानाम

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥ १

अनिर्देश्यं (निर्देष्टुमशक्यम्) परमं सुखं (आत्मानन्दलक्षणं) तत् मन्यन्ते, नु (वितर्के) कथं केन प्रकारेण, तत् (परमं सुखं) विजानीयाम् (आ कुर्याम्) भाति किमु (प्रकाशते किम्?) विभाति वा ॥ १४ ॥

उसी इस [आत्मविज्ञानस्वरूप) को ही विवेकी पुरुष अनिर्वाच्य परम हैं, उसे मैं कैसे जान सकूँगा, क्या वह प्रकाशित (हमारी बुद्धिसे गम्य अथवा नहीं ॥ १४ ॥

यत्तदात्मविज्ञानं सुखमनिर्देश्यं निर्देष्टुमशक्यं परमं प्रकृष्टं प्र

है वैसे ही अन्य प्राणियोंमें चेतयितृत्व आत्मचैतन्यनिमित्त ही है। किञ्च तथा सर्वेश्वर भी है, क्योंकि वह अकेला ही बिना किसी प्रयासके अनेक सका पुरुषोंको कर्मानुरूप कर्मफल तथा स्वानुग्रह रूप निमित्तसे भोग विधान क देता है। जो धीर-विवेकी पुरुष अपनी बुद्धिमें अभिव्यक्त उस आत्माका करते हैं उन्हींको शाश्वती-नित्य स्वात्मभूता शान्ति-उपरति प्राप्त होत जो ऐसे नहीं हैं उन्हें प्राप्त नहीं होती ॥ १३ ॥

यह जो आत्मविज्ञानरूप सुख है वह अनिर्देश्य-निर्देश करने अयोग्य,

सत्यानन्दीदीपिका

सूर्य और चन्द्रमाकी रचनाकी) इत्यादि श्रुतिसे अकृताभ्यागम और प्रसङ्गका परिहार किया गया है, क्योंकि प्रलीन कल्पान्तरभावोंकी कल्पा तीयरूपसे उत्पत्ति होती है, इसलिए सृष्टि प्रवाहरूपसे अनादि कही गई है स्तम्बपर्यन्त सब प्राणियोंमें जो चेतयितृत्व है वह चैतन्यनिमित्त है, वह चेत है। 'सः सर्वज्ञः सर्ववित्' 'कर्माध्यक्षः' इत्यादि श्रुति और 'विमतं कर्मफलं भिज्ञेन दीयमानं व्यवहितफलत्वात् सेवाफलवत्' 'विवादास्पद कर्मफल उसक जाननेवाले द्वारा दिया जाता है, क्योंकि व्यवहित फल है' जैसे सेवाप अनमानसे ईश्वर सर्वेश्वर और कर्मफलदाता सिद्ध होता है ॥ १३ ॥

नसयोरगोचरमपि सन्निवृत्तैषणा ये ब्राह्मणास्ते यत्तदेतत्प्रत्यक्षमेवेति ते। कथं नु केन प्रकारेण तत्सुखमहं विजानीयाम्। इदमित्यात्मबुद्धिमापादयेयं यथा निवृत्तैषणा यतयः। किमु तद्भाति दीप्यते प्रकाशात्मकं ऽस्मद्बुद्धिगोचरत्वेन विभाति विस्पष्टं दृश्यते किं वा नेति ॥ १४ ॥
प्रश्नोत्तरमिदं भाति च विभाति चेति। कथम् ?

सर्वप्रकाशकब्रह्म

तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
व भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १५ ॥

त्र (तस्मिन् ब्रह्मणि) सूर्यः न भाति, चन्द्रतारकं (चन्द्रः तारकसमुदायः) ति] इमाः (दृश्यमानाः) विद्युतः न भान्ति, अयम् अग्निः कुतः ? भान्तं

धारण पुरुषोंकी वाणी और मनका अविषय भी है, तो भी निवृत्त एषणाओंवाले ण लोग हैं वे उसे प्रत्यक्ष ही मानते हैं। उस आत्मसुखको मैं किस प्रकार जान ? निवृत्त एषणावाले यतियोंके समान 'वह यही है' इस प्रकार उसे मैं द्धिका विषय कैसे संपादन करूँगा ? वह प्रकाश स्वरूप है सो क्या वह भासता बुद्धिका विषयरूपसे स्पष्ट दिखलायी देता है अथवा नहीं ॥ १४ ॥
का उत्तर यही है कि वह भासता है और विशेषरूपसे भासता है। किस प्रकार?

सत्यानन्दीदीपिका

'बका त्यागकर जिन यतियोंने आत्मैकत्व दर्शनकर परमानन्दकी प्राप्ति की है, लोग भी एषणा त्रयत्याग पूर्वक आचार्य और शास्त्रद्वारा आत्मैकत्व प्रतिपादक ' आदि वेदान्त वाक्योंके उपदेशसे आत्मानन्दका अनुभव कर सकते हैं। के विषयमें 'यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह' 'वाणी भी मनके साथ कर लौट आती है' इत्यादि श्रुतिसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मदर्शन , परन्तु 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः (कठ० २।१२) द्रष्टव्यः' (विशुद्ध मनद्वारा ही वह दर्शन योग्य है)

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं लभेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

ाधिद्वारा निर्मल हुए विशिष्टचित्तसे जो आत्मामें सुख प्राप्त होता है वह ी वर्णन नहीं किया जा सकता, किन्तु उस कालमें वह आत्मसुख अन्तःा ही गृहीत होता है) 'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्' (गीता ६-२१) (अतीन्द्रिय

प्रकाशमानं) तम् (आत्मानम्) एव अनु (अनुसृत्य) सर्वं (सूर्यादिकं ज्योति
ाति (प्रकाशं लभते) इदं सर्वं (जगत्) तस्य (आत्मज्योतिषः) भासा (दीप्त
िभाति (प्रकाशते) ।। १५ ।।

उस ब्रह्म स्वरूपमें सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्रमा और तारागण भी प्रका
हीं होते और न यह विद्युत् ही प्रकाशित होती हैं, फिर इस अग्निकी तो बा
या है ? उसके प्रकाशमान होते हुए ही सब कुछ प्रकाशित होता है और
काशसे ही यह सारा जगत् भासता है ।। १५ ।।

न तत्र तस्मिन्स्वात्मभूते ब्रह्मणि सर्वावभासकोऽपि सूर्यो भाति तद्ब्र
ाकाशयतीत्यर्थः । तथा न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमस्मद्
ोचरोऽग्निः । किं बहुना यदिदमादिकं सर्वं भाति तत्तमेव परमेश्वरं
ीप्यमानमनुभात्यनुदीप्यते । यथा जलोल्मुकाद्यग्निसंयोगादग्निं दहन्त
हति न स्वतस्तद्वत्तस्यैव भासा दीप्त्या सर्वमिदं सूर्यादि विभाति । यत

वहाँ उस स्वरूप ब्रह्ममें सबका प्रकाशक होकर भी सूर्य प्रकाशित नहीं होता
ह भी उस ब्रह्मको प्रकाशित नहीं करता । इसी प्रकार ये चन्द्रमा, तारे और
ी प्रकाशित नहीं होते, फिर हमारी दृष्टिके विषय भूत इस अग्निका तो कह
या है ? अधिक क्या कहा जाय ? यह सूर्य आदि जो सब प्रकाशित हो र
ब उस प्रकाशरूप परमात्मासे प्रकाशित होते हुए ही अनुदीप्त-अनुभासित हो र
जस प्रकार जल और उल्मुक (जलते काष्ठ) आदि अग्निके संयोगसे अग्निके प्र
ोते ही अनुदहन-दहन करते हैं स्वयं नहीं, उसी प्रकार उसके प्रकाश-तेजसे
ूर्यादि सब प्रकाशित होते हैं, क्योंकि ऐसा है, इसलिए वही ब्रह्म प्रकाशित ह
ौर विशेषरूपसे प्रकाशित होता है । सर्वगत नानाप्रकारके प्रकाशसे उस

सत्यानन्दीदीपिका

यह मन्त्र आत्माको स्वयं ज्योतिः स्वरूप कहता है, 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वेता० ६।११)

न तत्र चन्द्रार्कवायुः प्रकाशते न वान्ति वाताः सकला देवताश्च ।
स एव देवः कृतभावभूतः स्वयं विशुद्धो विरजः प्रकाशते ।।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।, ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमस प
यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् । यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि माम
(गी० १३।१४।१७—१५

व ब्रह्म भाति च विभाति च। कार्यगतेन विविधेन भासा तस्य ब्रह्मण
रूपत्वं स्वतोऽवगम्यते। न हि स्वतोऽविद्यमानं भासनमन्यस्य कर्तुं शक्यम्
दीनामन्यावभासकत्वादर्शनाद्भासनरूपाणां चादित्यादीनां तद्दर्शनात्॥१५
शाङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद् भाष्ये द्वितीयवल्लीभाष्यं समाप्तम्॥ २-२॥

शस्वरूपता स्वतः अवगत होती है, क्योंकि जिसमें स्वतः प्रकाश नहीं है व
को प्रकाशित नहीं कर सकता। जैसे घटादिका अन्योंमें प्रकाशत्व नहीं देखा गय
ोर प्रकाशरूप आदित्यादिका अन्योंको प्रकाशित करना देखा जाता है॥ १५॥

ानिषद्के द्वितीयाध्यायकी द्वितीयवल्लीके शाङ्करभाष्यका 'स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
कृत भाषानुवाद समाप्त॥ २।२॥

सत्यानन्दीदीपिका

ाज चन्द्रामें और अग्निमें स्थित है वह तेज मेरा ही जान) इत्यादि श्रुति स्मृि
ात्माको ज्ञानस्वरूप स्वयंप्रकाश प्रतिपादन करती हैं, इसलिए ब्रह्म सच्चिदानन
ा है और वही सबका आत्मा है॥ १५॥

कठोपनिषद्के द्वितीयाध्यायकी द्वितीयवल्लीकी 'स्वामी सत्यानन्द सरस्वती'
कृत 'सत्यानन्दीदीपिका' समाप्त॥ २।२॥

द्वितीयाध्यायस्य तृतीयावल्ली

संसाररूप अश्वत्थवृक्ष

तूलावधारणेनैव मूलावधारणं वृक्षस्य क्रियते लोके यथा, एवं संसारकार्य-
ाधारणेन तन्मूलस्य ब्रह्मणः स्वरूपावदिधारयिषयेयं षष्ठी वल्ल्यारभ्यते—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्॥१॥

ोकमें जैसे तूल-कार्यका निश्चय करनेसे ही वृक्षके मूलका निश्चय किया ...

एषः (संसारवृक्षः) अश्वत्थ ऊर्ध्वमूलः (ऊर्ध्वं मूलं यस्य सः) अवाक्शा
धोवर्त्तिन्यः शाखाः विस्तारो यस्य सः) सनातनः (अनादिप्रवाहरूपः) तं
म् इत्याद्यंशः पूर्ववत् ॥ १ ॥

ऊपरकी ओर मूल तथा नीचेकी ओर शाखाओंवाला यह संसाररूप अश्वत्थवृ
तन-अनादि है। वही विशुद्ध ज्योतिः स्वरूप है, वही ब्रह्म है और वही अमृत क
ा है, सब लोक उसके आश्रित हैं, कोई भी उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता, य
य वह (ब्रह्म) है ॥ १ ॥

ऊर्ध्वमूल ऊर्ध्वं मूलं यत्तद्विष्णोः परमं पदमस्येति सोऽयमव्यक्तादिस्थ
न्तः संसारवृक्ष ऊर्ध्वमूलः। वृक्षश्च व्रश्चनात्। जन्मजरामरणशोकाद्य
र्थात्मकः प्रतिक्षणमन्यथास्वभावो मायामरीच्युदकगन्धर्वनगरादिवद् दृष्टन
रूपत्वादवसाने च वृक्षवदभावात्मकः कदलीस्तम्भवन्निःसारोऽनेकशतपार
ुद्धिविकल्पास्पदस्तत्त्वविजिज्ञासुभिरनिर्धारितेदंतत्त्वो वेदान्तनिर्धारि
ह्ममूलसारोऽविद्याकामकर्माव्यक्तबीजप्रभवोऽपरब्रह्मविज्ञानक्रियाशक्तिद्वर
हिरण्यगर्भाङ्कुरः सर्वप्राणिलिङ्गभेदस्कन्धस्तृष्णाजलावसेकोद्भूतद
न्द्रियविषयप्रवालाङ्कुरः श्रुतिस्मृतिन्यायविद्योपदेशपलाशो यज्ञदा

ऊर्ध्व (ऊपरकी ओर) अर्थात् जो वह विष्णुका परम पद है वही इस
है ऐसा यह अव्यक्तसे स्थावरपर्यन्त संसार वृक्ष 'ऊर्ध्वमूल' है, इसका 'व्रश्च
' होनेके कारण यह वृक्ष कहा जाता है। जो जन्म, जरा, मरण, शोक आदि अ
रूप प्रतिक्षण अन्यथाभावको प्राप्त होनेवाला, माया-मृगतृष्णाके जल अ
नगरादिके समान दृष्ट-नष्ट-स्वरूप होनेसे अन्तमें वृक्षके समान अभावरूप
ाला, केलेके खम्भके समान निःसार और सैकड़ों पाखण्डियोंकी बुद्धिके विकल्पों
य है। तत्त्वजिज्ञासुओंद्वारा जो 'तत्त्व' 'इदम्' रूपसे अनिर्धारित है, वेदा
रित परब्रह्म ही जिसका मूल और सार है, जो अविद्या, काम, कर्म और अव्यक्तर
और क्रिया ये दो शक्तिरूप अपर-ब्रह्मरूप हिरण्यगर्भ अंकुरवाला है बीज
प होनेवाला अर्थात् ज्ञान, क्रिया ये दो शक्तियोंवाला हिरण्यगर्भ जिसका अङ्कुर
ाणियोंके लिङ्गशरीर विशेष ही जिसके स्कन्ध (शाखामूल) हैं, जो तृष्णारूप ज
नसे वृद्धिको प्राप्त तेजवाला, ज्ञानेन्द्रियोंके विषय-शब्द, स्पर्श, रूप, रसादिरूप नूत

सत्यानन्दीदीपिका

कार्यं अवश्य कारण मूलक होता है, ऐसा नियम है। जैसे शाल्मली आदि वृ

ाचनकाक्र्यासुपुष्पः सुखदुःखवेदनानेकरसः प्राण्युपजीव्यानन्तफलस्त-
ासलिलावसेकप्ररूढजड़ीकृतदृढबद्धमूलः सत्यनामादिसप्तलोकब्रह्मादि-
ाकृतनीडः प्राणिसुखदुःखोद्भूतहर्षशोकजातनृत्यगीतवादित्रक्ष्वेलि-
ोटितहसिताकृष्टरुदितहाहामुञ्चमुञ्चेत्याद्यनेकशब्दकृततुमुलीभूतमहारवो -
तविहितब्रह्मात्मदर्शनासङ्गशस्त्रकृतोच्छेद एष संसारवृक्षोऽश्वत्थोऽ-
त्कामकर्मवातेरितनित्यप्रचलितस्वभावः, स्वर्गनरकतिर्यक्प्रेतादिभिः
ाभिरवाक्शाखः; सनातनोऽनादित्वाच्चिरं प्रवृत्तः ।

ोंके अङ्कुरोंवाला, श्रुति, स्मृति, न्याय और ज्ञानोपदेशरूप पत्तोंवाला, यज्ञ, दान, ादि अनेक क्रिया-कलापरूप सुन्दर पुष्पोंवाला । सुख, दुःख और वेदनारूप विविध युक्त प्राणियोंकी आजीविकारूप अनन्त फलोंवाला तथा फलोंके तृष्णारूप जलके से वृद्धिको प्राप्त हुए और [सात्त्विक आदि भावोंसे] मिश्रित एवं दृढतापूर्वक [कर्मवासनादिरूप अवान्तर] मूलोंवाला है, ब्रह्मादि पक्षियोंने जिसपर सत्य (भूः भुवः स्वः महः जनः तपः और सत्यम्) नामोंवाले सातलोकरूप घोंसले खे हैं, जो प्राणियोंके सुख दुःख जनित हर्ष शोकसे उत्पन्न नृत्य, गान, वाद्यक्रीडा टन (खम ठोकना) हँसी, आक्रन्दन रोदन, हाय हाय, छोड़ छोड़ इत्यादि प्रकारके शब्दोंकी तुमुलध्वनिसे अत्यन्त गुञ्जायमान हो रहा है तथा वेदान्तविहित ्मैक्य दर्शनरूप असङ्ग शस्त्रसे जिसका उच्छेद होता है ऐसा संसाररूप वृक्ष अश्वत्थ त् अश्वत्थवृक्षके समान कामना और कर्मरूप वायुसे प्रेरित हुआ नित्य चञ्चल वाला है । स्वर्ग नरक तिर्यक् और प्रेत आदि शाखाओंके कारण नीचेकी ओर ाखाओंवाला है तथा सनातन-अनादि होनेके कारण चिरकालसे चला आ ।

सत्यानन्दीदीपिका

सूर्यके प्रचण्ड प्रकाशमें विद्यमान होते भी नक्षत्र स्थूल-दृष्टिवालेको दृष्टिगोचर ते, वैसे ही स्थूल दृष्टिवालोंको भी सर्वत्र व्याप्त भारूप ब्रह्म अनुभवमें नहीं आता, ाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः (गीता ७।२५) (अपनी योगमायासे ृआ मैं सबको प्रकाशित नहीं होता हूँ) यह स्मृति भी है । अतः यहाँ कार्यसे ा निश्चय करनेके लिए इस वल्लीका आरम्भ है—

ावान् भाष्यकार संसारमें वृक्ष-शब्दकी प्रवृत्तिमें निमित्त कहते हैं—'अश्नात्' ात्ति और 'व्रश्चूछेदने' इस धातुसे स प्रत्ययान्त वृक्ष शब्द निष्पन्न हुआ है । इससे ाथँ नाश होनेवाला है ।

यदस्य संसारवृक्षस्य मूलं तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं ज्योतिष्मत्
ज्योतिःस्वभावं तदेव ब्रह्म सर्वमहत्त्वात्। तदेवामृतमविनाशस्वभ
कथ्यते सत्यत्वात्। वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतमन्यदतो
तस्मिन्परमार्थसत्ये ब्रह्मणि लोका गन्धर्वनगरमरीच्युदकम
परमार्थदर्शनाभावावगमनाः श्रिता आश्रिताः सर्वे समस्ता उत्पत्तिस्थि
तदु तद्ब्रह्म नात्येति नातिवर्तते मृदादिमिव घटादिकार्यं कश्चदपि
एतद्वै तत् ॥ १ ॥

यद्विज्ञानादमृता भवन्तीत्युच्यते जगतो मूलं तदेव नास्ति ब्रह्मा
निःसृतमिति। तन्न—

ब्रह्मज्ञानसे अमरत्वप्राप्ति

यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २

इस संसार वृक्षका जो मूल है वही शुक्र शुभ्र-शुद्ध ज्योतिर्मय अर्थात्
ज्योतिःस्वभाव है, वही सबसे महान् होनेके कारण ब्रह्म है, वही सत्यस्वरू
अमृत अर्थात् अविनाशी स्वभाववाला कहा जाता है। विकार वाणीका वि
केवल नाममात्र है, अतः उस ब्रह्मसे भिन्न सब मिथ्या है और नाशवान् है
दर्शनके अभावसे प्रतीयमान गन्धर्वनगर, मरीचिकाजल और मायाके समान ये
उत्पत्ति, स्थिति और लयदशामें उस परमार्थसत्यब्रह्ममें आश्रित हैं। जि
घटादिकार्य मृत्तिका आदिका अतिक्रमण नहीं कर सकते, उसी प्रकार कोई भी
ब्रह्मका अतिक्रमण नहीं कर सकता। निश्चय यही वह (ब्रह्म) है ॥ १ ॥

शङ्का—जिसके विज्ञानसे अमर हो जाते हैं ऐसा जिसके विषयमें कहा जा
जगत्का मूलभूत ब्रह्म तो वस्तुतः है ही नहीं, यह सब तो असत्से प्रादुर्भूत
समाधान-ऐसा नहीं, [क्योंकि]

सत्यानन्दीदीपिका

ग्रहण है। मायादिके समान प्रतिक्षण अन्यथा-स्वभाववाला है, क्योंकि इस
प्रतीति होती है उत्तर कालमें नहीं, इससे संसारको मायादिके समान दृष्ट-न
वाला कहा गया है। लोक प्रसिद्ध वृक्ष जैसे 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इ
विकल्पास्पद है, वैसे यह संसार भी 'संघात है, परिणाम है वा आरब्ध है, सत्
असत्' इत्यादि अनेक पाखण्ड-बुद्धिकी कल्पनाका विषय है। परन्तु 'वा
विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० ६।१।४) इत्यादि श्रुतिमें जो

तम् (उत्पन्नं) एतत् प्राणाख्यं ब्रह्म महद् भयं (भयानकम्) उद्यतं वज्रं (वज्रमिव
दुः (जानन्ति) ते अमृताः (मुक्ताः) भवन्ति ॥ २ ॥

यह जो कुछ सारा जगत् है प्राण-ब्रह्मके अस्तित्वसे चेष्टा कर रहा है, उसीसे
-उत्पन्न है वह ब्रह्म महान् भयरूप और उठे हुए वज्रके समान है, जो इसे जानते
अमर हो जाते हैं ॥ २ ॥

यदिदं किंच यत्किंचेदं जगत्सर्वं प्राणे परस्मिन्ब्रह्मणि सत्येजति कम्पते
ऽव निःसृतं निर्गतं सत्प्रचलति नियमेन चेष्टते। यदेवं जगदुत्पत्त्यादिकारणं
तन्महद्भयम्। महच्च तद्भयं च बिभेत्यस्मादिति महद्भयम्; वज्रमुद्यत-
मिव वज्रम्। यथा वज्रोद्यतकरं स्वामिनमभिमुखीभूतं दृष्ट्वा भृत्या नियमेन

यह जो कुछ है-यह जो कुछ जगत् है वह सब प्राण परब्रह्मके होनेपर ही उसीसे
त-उत्पन्न होकर एजन-कम्पन-गमन अर्थात् नियमतः चेष्टा कर रहा है। इस प्रकार
ह्म जगत्की उत्पत्ति आदिका कारण है वह महान् भयरूप है, इससे सब भय
हैं, इसलिए वह 'महद्भय' है 'वज्रमुद्यतम्' उठाये हुए वज्रके समान है, भाव यह
जिस प्रकार अपने सामने स्वामीको हाथमें वज्र उठाये देखकर सेवक लोग
नुसार उसकी आज्ञामें प्रवृत्त होते रहते हैं। उसी प्रकार चन्द्रमा, आदित्य, ग्रह,

सत्यानन्दीदीपिका

ार्यका शून्यपर्यन्त नाश होता है, अतः असत् पूर्वक ही इसका जन्म है, इससे
का मूलभूत ब्रह्म नहीं है, 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः
त' (छा० ६।२।१) (कोई कहते हैं कि पहले यह एक अद्वितीय असत् ही था,
असत्से सत् उत्पन्न हुआ है) यह श्रुति है। इस शङ्काको 'यद्विज्ञानात्' से कहते
: 'तन्न' इससे समाधान करते हैं ॥

यह लोक प्रसिद्ध है कि गगनकुसुम, शशविषाण आदि असत् पदार्थोंसे कहीं भी
ार्थकी उत्पत्ति नहीं होती किन्तु सत्से ही होती है, अतः सद्रूप ब्रह्म जगत्का
रण है। 'कुतस्तु खलु सोम्यैवँ स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति, सत्त्वेव
मग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति' (छा० ६।२।२३)
लक--हे श्वेतकेतु ! यह ऐसा कैसे हो सकता है, असत्से सत्की उत्पत्ति कैसे हो
है ? हे सोम्य ! पहले यह एक अद्वितीय सत् ही था, उसने ईक्षण किया। बहुत
त्पन्न होऊँ) 'नासतो विद्यते भावः' (गी०) इत्यादि श्रुति, स्मृतिसे भी यही सिद्ध
है कि सद्रूप ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति होती है। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा-

तच्छासन वर्तन्त तथद् चन्द्रादित्यग्रहनक्षत्रतारकादिलक्षणं जगत्सेश्वरं क्षणमप्यविश्रान्तं वर्तत इत्युक्तं भवति। ये एतद्विदुः स्वात्मप्रवृत्तिस मेकं ब्रह्मामृता अमरणधर्माणस्ते भवन्ति॥ २॥

कथं तद्भयाज्जगद्वर्तत इत्याह—

सर्वशासक परमेश्वर

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥ ३॥

अग्निः अस्य (ब्रह्मणः) भयात् तपति, सूर्यः भयात् तपति, [अस्य इन्द्रश्च, वायुश्च, पञ्चमः मृत्युः धावति (स्वव्यापारं करोति)॥ ३॥

इस परमेश्वरके भयसे अग्नि तपति है, इसके भयसे सूर्य तपता है, त भयसे इन्द्र, वायु और पाँचवाँ मृत्यु अपने अपने कार्यमें संलग्न रहते हैं॥ ११९

भयाद्भीत्या परमेश्वरस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यो भयादिन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः। न हीश्वराणां लोकपालानां समर्थानां सतां

नक्षत्र, तारा आदि रूप यह सारा जगत् अपने अधिष्ठाताओंके सहित एक विश्राम न लेकर नियमतः उसकी आज्ञामें वर्तता है। अपने अन्तःकरणको साक्षीभूत इस एक ब्रह्मको जो लोग जानते हैं वे अमरणधर्मा-अमर हो जाते हैं।

उसके भयसे जगत् किस प्रकार व्यापारकर रहा है ? उसे कहते हैं—

इस परमेश्वरके भयसे अग्नि तपति है, इसके भयसे सूर्य तपता है तथा इसी इन्द्र, वायु और पञ्चम मृत्यु दौड़ता है। यदि ईशनशील समर्थ लोकपालोंका हा

सत्यानन्दीदीपिका

अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (बृह० ३।८।९) (याज्ञव —हे गार्गी ! इस अक्षर ब्रह्मके प्रशासनमें सूर्य और चन्द्रमा विधृत हुए स्थित है श्रुति ऐसा कहती है कि सब ब्रह्मके प्रशासनमें रहते हैं। इस ब्रह्मको प्रत्यगभिन्नरू जानते हैं वे मुक्त हो जाते हैं॥ २॥

जैसे एक साम्राज्यके राजप्रतिनिधिगण राजाज्ञा एवं राजनिर्मित नियम करनेके कारण राजपदसे च्युत तथा दण्डार्ह होते हैं, वैसे ही सूर्य आदि पदोंके अधीश्वरगण अपने पदसे च्युत न हों इसलिए सर्वशक्तिमान् परमेश्वरके नियम तत्पर रहते हैं और कदापि उसका भङ्ग न हो इससे सर्वदा भयभीत रहते हैं। अ

ाायतकरवन्न स्यात्स्वामिभयभीतानामिव भृत्यानां नियता प्रवृत्तिरूप
ो ॥ ३ ॥

ब्रह्मज्ञानके विना पुनर्जन्मप्राप्ति

तच्च—

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः ।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥

इह (अस्मिन् देहे) चेत् (यदि) बोद्धुम् (अवगन्तुम्) अशकत् (शक्तो भवेत्) ा] शरीरस्य विस्रसः (विसंस्रनात् पतनात्) प्राक् (पूर्वमेव) मुच्यते (मुक्तो) ततः (अनवबोधादेव) सर्गेषु (लोकेषु) शरीरत्वाय (देहलाभाय) ॥ ४ ॥

ादि इस देहमें इसके पतनसे पूर्व ही ब्रह्मको जाननेमें समर्थ हुआ तो संसार बन्धनसे ो जाता है और यदि नहीं जान पाया तो जन्ममरण-शील लोकोंमें वह शरीर-ा प्राप्त होनेमें समर्थ होता है ॥ ४ ॥

ह जीवन्नेव चेद्यद्यशकच्छक्नोति शक्तः सज्ज्ञानात्येतद्भयकारणं ब्रह्म मवगन्तुं प्राक्पूर्वं शरीरस्य विस्रसोऽवस्रंसनात्पतनात्संसारबन्धनाद्वि-' । न चेदशकद्बोद्धुं ततः अनवबोधात्सर्गेषु सृज्यन्ते येषु स्रष्टव्याः

रखनेवाले [इन्द्र] के समान कोई नियन्ता न होता तो स्वामीसे भीत हुए सेवकोंके उनकी नियमित कार्य प्रवृत्ति नहीं होती ॥ ३ ॥

ार उस (भयके कारण स्वरूप ब्रह्म) को—

दे इस देहमें अर्थात् जिवित रहते ही शरीरका पतन-मरण होनेसे पूर्व साधक ' सूर्यादिके भयके हेतुभूत ब्रह्मको जाननेमें समर्थ हुआ तो वह संसार बन्धनसे जाता है और यदि उसे जाननेमें असमर्थ रहा तो उसका ज्ञान न होनेके कारण

सत्यानन्दीदीपिका

लदाता यम है, इसकी राजधानी पितृलोकमें है । ये देवगण समर्थ होते भी भयसे नियमतः अपने अपने कार्यमें रत रहते हैं । इस विषयमें—

महासत्त्वाः स्वतन्त्रा। बाहुशालिनः । यस्य भीत्या प्रवर्तन्ते स्वे स्वे कर्मणि भृत्यवत् । ा भी है ॥ ३ ॥

वेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः (केन० २।५) (सर्वो-

ाय कल्पते समर्थो भवति शरीरं गृह्णातीत्यर्थः। तस्माच्छरीरविस्रंसन गात्मबोधाय यत्न आस्थेयः ॥ ४ ॥

यस्मादिहैवात्मनो दर्शनमादर्शस्थस्येव मुखस्य स्पष्टमुपपद्यते न लोकान्तरे लोकादन्यत्र, स च दुष्प्रापः, कथम् ? इत्युच्यते—

स्थानभेदसे ब्रह्मदर्शनमें तारतम्य

थादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।
थाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ।५

ादर्शे (दर्पणे) [मुखं] यथा दृश्यते, आत्मनि (बुद्धौ) [परमात्मा] तथ ददृशे (परिदृश्यते) स्वप्ने यथा पितृलोके तथा। अप्सु (जले) यथा गन्धर्वलो परिददृशे इव ब्रह्मलोके छायातपयोः (प्रकाशान्धकारयोः) इव [आत्मानात्मनं ं भवति] ॥ ५ ॥

प्रकार दर्पणमें उसी प्रकार निर्मल बुद्धिमें आत्मा का स्पष्ट दर्शन होता है और जैस ामें वैसा ही पितृलोकमें, और जैसा जलमें वैसा ही गन्धर्वलोकमें उसका [अस्पष्ट होता है, किन्तु ब्रह्मलोकमें तो छाया और प्रकाशके समान वह [सर्वथा स्प ृत होता है ॥ ५ ॥

सर्गोंमें जिनमें स्रष्टव्य प्राणियोंकी रचना की जाती है उन पृथिवी आदि लोकों रत्व-शरीरभावको प्राप्त होनेमें समर्थ होता है अर्थात् शरीर ग्रहण करता है, य है। अतः शरीरपातसे पूर्व ही आत्मज्ञानके लिए यत्न करना चाहिए ॥ ४ ॥

क्योंकि जिस प्रकार दर्पणमें मुखका प्रतिबिम्ब स्पष्ट पड़ता है उसी प्रकार इ प्रदेहमें ही आत्माका दर्शन स्पष्ट उपलब्ध हो सकता है, वैसा दर्शन ब्रह्मलोकव कर अन्य किसी लोकमें नहीं हो सकता और वह ब्रह्मलोक दुष्प्राप्य भी है, सो कि र ? इसपर कहते हैं—

सत्यानन्दीदीपिका

रूपसे नहीं जाना तो उसने अपना महान् विनाश किया अर्थात् पुनः पुनः विवि ियोंमें जाकर विविध क्लेशोंका भागी होता है) वस्तुतः इस पुण्यमय मनुष्य शरी महत्त्व तभी है जब आत्मतत्वका अनुभव करे, भोग इस जीवनका मुख्य उद्देश है वह तो विवध योनियोंमें प्राप्त ही है, 'ये के चात्महनो जनाः' (ईश० ३) य ्वाक्य आत्माको न जाननेवालोंको आत्मघाती कहता है। अतः आत्मतत्त्वक

ी आदर्शवन्निर्मलीभूतायां विवक्तमात्मनो दर्शनं भवतीत्यर्थः। यथा-
ऽविविक्तं जाग्रद्वासनोद्भूतं तथा पितृलोकेऽविविक्तमेव दर्शनमात्मनः
लोपभोगासक्तत्वात्। यथा चाप्सु अविभक्तावयवमात्मरूपं परीव ददृशे
यत इव तथा गन्धर्वलोकेऽविविक्तमेव दर्शनमात्मनः। एवं च लोकान्त-
शास्त्रप्रामाण्यादवगम्यते। छायातपयोरिवात्यन्तविविक्तं ब्रह्मलोक एवै-

---

ास प्रकार लोग दर्पणमें प्रतिबिम्बभूत अपने आपको अत्यन्त स्पष्टरुपसे देखते हैं कार दर्पणके समान अतिनिर्मलीभूत अपनी बुद्धिमें आत्माका स्पष्टरुपसे दर्शन , ऐसा अभिप्राय है। जैसे स्वप्नमें जाग्रद्वासनाओंसे प्रकट हुआ दर्शन अस्पष्ट वैसे ही पितृलोकमें भी अस्पष्ट आत्मदर्शन होता है, क्योंकि वहाँ जीव कर्मफलके में आसक्त रहता है। जिस प्रकार जलमें अपना स्वरूप अविभक्तावयव - ा दिखलाई देता है उसीप्रकार गन्धर्वलोकमें भी अस्पष्टरुपसे ही आत्माका होता है। शास्त्रप्रमाणसे अन्यलोकोंमें भी (ऐसा ही अस्पष्ट आत्मदर्शन होता है) एकमात्र ब्रह्मलोकमें ही छाया और आतप-अन्धकार काशके समान वह आत्मदर्शन अत्यन्त स्पष्टरूपसे होता हैं, किन्तु अत्यन्त

सत्यानन्दीदीपिका

तःकरणके अवस्थाभेदसे और लोकोंके भेदसे इस मन्त्रमें चार अवस्थाओंका कया गया है। प्रथम—दर्पणके साथ बुद्धिकी अवस्था का उदाहरण दिया गया जितना मलिन व स्वच्छ होता है तदनुसार ही उसमें प्रतिबिम्बित वस्तु देती है, उसी प्रकार बुद्धि भी जितनी आवरणरहित होती है उतना ही त्माका स्वरुप प्रकाशित होता है, विषयमलसे मलिन बुद्धिमें आत्मज्योतिः रहती है। दूसरा उदाहरण स्वप्न और पितृलोकका है—जिसप्रकार स्वप्नमें रूपकी विस्मृति रहती है वैसे पितृलोकमें भी, क्योंकि वहाँ भी वासनाओंसे व कर्मफलोपभोगमें आसक्त होता है। तीसरी अवस्था जल और गन्धर्व दाहरणसे कही गई है–जिस प्रकार जलमें सूर्यादिका प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखलायी ा वैसे ही गन्धर्वादि लोकोंमें आनन्दस्वरूप आत्मा वैषयिक-सुखसे मिश्रित ामें आता है स्पष्टरूपसे नहीं, चौथा उदाहरण छाया और आतपके सम्बन्धसे ा दिया गया है, जैसे अन्धकार और प्रकाश अतिस्पष्ट अनुभवमें आते हैं, वैसे ब्रह्मलोकमें आत्मा और अनात्मका अतिस्पष्ट अनुभव होता है, परन्त वह

... ... पुण्यानामत्यन्तातिशयिष्टकर्मज्ञानसाध्यत्वात् । तस्मादात्मदर्शं
हैव यत्नः कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

कथमसौ बोद्धव्यः किं वा तदवबोधे प्रयोजनमित्युच्यते—

आत्मज्ञानका प्रकार और प्रयोजन

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६ ॥

पृथग् उत्पद्यमानानां इन्द्रियाणां पृथग्भावं (आत्मनो भिन्नत्वम्) उदयास्तमयौ
, धीरः (धीमान्) एतद् मत्वा (ज्ञात्वा) न, शोचति (शोकं न करोति) ॥६

पृथक् पृथक् भूतोंसे उत्पन्न हुई इन्द्रियोंके जो विभिन्न भाव तथा उनकी उत्प
र प्रलय हैं उन्हें जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥ ६ ॥

इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां स्वस्वविषयग्रहणप्रयोजनेन स्वकारणेभ्य आकाश
भ्यः पृथगुत्पद्यमानानामत्यन्तविशुद्धात्केवलाच्चिन्मात्रात्मस्वरूपात्पृथग्भा
भावविलक्षणात्मकतां तथा तेषामेवेन्द्रियाणामुदयास्तमयौ चोत्पत्तिप्रलय
ग्रत्स्वापावस्थापेक्षया नात्मन इति मत्वा ज्ञात्वा विवेकतो धीरो धीमा

ाष्ट कर्म और ज्ञान-उपासनासे साध्य होनेके कारण वह ब्रह्मलोक तो दुष्प्राप्य है
अभिप्राय यह है कि इस मनुष्य शरीरमें ही आत्मदर्शनार्थ प्रयत्न करना चाहिये ।५

उस आत्माको क्यों जानना चाहिए उसके जाननेमें क्या प्रयोजन है ? इसप
हैं—

अपने-अपने (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) विषयोंका ग्रहणरूप प्रयोजन
ण अपने कारणरूप आकाशादि भूतोंसे पृथक् पृथक् उत्पन्न होनेवाली श्रोत्रा
ोंका जो विशुद्धरूप केवल चिन्मात्र आत्मस्वरूपसे पृथक्त्व अर्थात् स्वाभावि
गणरूपता है उसे तथा जाग्रत् और स्वप्नकी अपेक्षा उन इन्द्रियोंके उदयास्तमय
त और प्रलयको जानकर अर्थात् विवेक पूर्वक यह समझकर कि ये इन्द्रियोंकी

सत्यानन्दीदीपिका

करने चाहिए । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'
२।४।५) इत्यादि श्रुति भी ऐसा ही कहती है ॥ ५ ॥

आकाशदि पाँच भूतोंसे श्रोत्रादि इन्द्रियोंका उत्पत्तिक्रम यह है—आकाशसे श्रोत्र
शब्द, वायुसे त्वक्-विषय स्पर्श, अग्निसे नेत्र-विषय रूप, जलसे रसना विषय रस,
से घ्राण-विषय गन्ध, इस प्रकार इन्द्रिय उत्पन्न होती और अपने-अपने विषयमें

आत्मनो नित्यैकस्वभावस्याव्यभिचाराच्छोककारणत्वानुपपत्तेः । तथा
रम् 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७।१।३) इति ॥ ६ ॥
दात्मन इन्द्रियाणां पृथग्भाव उक्तो नासौ बहिरधिगन्तव्यो यस्मा-
। स सर्वस्य । तत्कथमित्युच्यते—

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ ७ ॥

भ्यः मनः परं (श्रेष्ठं) मनसः [अपि] सत्त्वं (बुद्धिः) उत्तमम्, महान्
दधि (अधिकः) अव्यक्तं महतः उत्तमम्' ॥ ७ ॥

से मन पर-उत्कृष्ट है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धिसे महत्तत्त्व (हिरण्यगर्भकी
द्धि) अधिक है तथा महत्तत्त्वसे अव्यक्त उत्तम है ॥ ७ ॥

भ्यः परं मन इत्यादि । अर्थानामिहेन्द्रियसमानजातीयत्वादिन्द्रिय-

---

आत्माकी नहीं, धीर-बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता, क्योंकि नित्य एक
आत्माका कभी व्यभिचार न होनेके कारण शोकका कोई कारण
कता । जैसा कि 'तरति०' (आत्मवित् शोकको पार कर जाता है) ऐसी
है ॥ ६ ॥

त्मासे इन्द्रियोंका पृथक्त्व कहा गया है वह कहीं बाहर है ऐसा
चाहिए, क्योंकि वह सबका अन्तरात्मा है, सो किस प्रकार ? इसपर

मन श्रेष्ठ है [तथा मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है] इत्यादि । इन्द्रियोंके सजातीय
का ग्रहण करनेसे अर्थों-विषयोंका भी ग्रहण हो जाता है । अन्य सब

सत्यानन्दीदीपिका

इन्द्रियाँ जाग्रदवस्थामें तो अपने अपने विषयका ग्रहण करती हैं किन्तु
नहीं, अतः इनका व्यभिचार प्रसिद्ध है, परन्तु आत्मा सब अवस्थाओंमें
उसका कहीं भी व्यभिचार नहीं है । शोकका कारण अविद्या मूलक
विद्याकी ब्रह्मविद्यासे निवृत्ति होनेपर 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः०' (मु० २।२।८)
थ टूट जाती है) इस प्रकार भेदबुद्धिके निवृत्त होनेसे शोकका अवसर
'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः (ईश० ७) (ज्ञानावस्थामें
वाले उस ब्रह्मवित्को मोह कहाँ और शोक कहाँ अर्थात् एकत्वदर्शीको
होते) ऐसी श्रुति भी है ॥ ६ ॥

हणेनैव ग्रहणम्। पूर्ववदन्यत्। सत्त्वशब्दाद्बुद्धिरिहोच्यते ॥ ७॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥ ८ ॥

व्यापकः अलिङ्गः एव पुरुषः तु (पुनः) अव्यक्तात् च (अपि) परः। (मनुष्यः) यं (पुरुषं) ज्ञात्वा (अधिगम्य) मुच्यते (मुक्तो भवति) अमृत अमरत्वं) च अधिगच्छति (प्राप्नोति) ॥ ८ ॥

अव्यक्तसे पुरुष श्रेष्ठ है, वह व्यापक तथा अलिङ्ग है। जिसे जानकर मनुष्य जाता है और अमृतत्वको प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापको व्यापकस्याप्याकाशादेः सर्वस्य कार ात्। अलिङ्गो लिङ्ग्यते गम्यते येन तल्लिङ्गं बुद्ध्यादि तदविद्यमानमस्

वित् (कठ० १।३।१० के समान) समझना चाहिए। सत्त्व शब्दसे यहाँ बुद्धि ाती है ॥ ७ ॥

अव्यक्तसे भी पुरुष श्रेष्ठ है, वह आकाशादि सब व्यापक पदार्थोंका भी कारण हो ापक है। अलिङ्ग है-जिसके द्वारा कोई वस्तु जानी जाती है वह बुद्धि आदि लि ़ जाते हैं, परन्तु वह पुरुषमें विद्यमान नहीं है, इसलिए वह अलिङ्ग ही है अ

सत्यानन्दीदीपिका

इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ है। मनसे बुद्धि अन्तर और सूक्ष्म है, बुद्धिसे महत्तत्त्व-हिरण्य यरूप महान् और श्रेष्ठ है। इस प्रकार क्रमशः पूर्वसे पर श्रेष्ठ कहा गया है ॥ ७

'आत्मन आकाशः संभूतः' (आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादि श्रुति आ आकाशादिका कारण कहती है, और 'सर्वगतश्च नित्यः' यह श्रुति ब्रह्मको सर्वव्या र नित्य कहती है। प्रकृति-मायाकी दो अवस्थाएँ हैं—एक व्याकृत-व्यक्त और दू ाकृत-अव्यक्त, प्रकृतिकी व्यक्तावस्थाके ही बुद्धि, मन, इन्द्रियादि लिङ्ग-कार्य स ये सब प्रकृतिकी विषमावस्थाके परिणाम हैं। मायाकी साम्यावस्था अव्याकृत ी है, महाप्रलयमें यह सारा जगत् अव्याकृतमें लय होता है अर्थात् जगत्की कार ा ही अव्याकृत है। परिणामिनी होनेसे वह लिङ्गभावसे युक्त है। परन्तु तीय सर्वव्यापक चिन्मात्र आत्मा लिङ्गभावसे रहित होनेके कारण अलिङ्ग द्सुखदुःखादयः साश्रया गुणत्वाद् रूपवत्' (बुद्धि सुख दुःखादि साश्रय-आश्रयव ण होनेसे रूपके समान) ऐसा वैशेषिक अनुमान करते हैं। साश्रयत्व मात्र सि नेमें तो सिद्ध साधन दोष है, क्योंकि 'कामः सङ्कल्पः……सर्वं मन एव' आदि श्र

ग्रमलिङ्ग एव। सर्वसंसारधर्मवर्जित इत्येतत्। यं ज्ञात्वाऽऽचार्यतः शास्त्र-
मुच्यते जन्तुरविद्यादिहृदयग्रन्थिभिर्जीवन्नेव पतितेऽपि शरीरेऽमृतत्वं च
ति सोऽलिङ्गः परोऽव्यक्तात्पुरुष इति पूर्वेणैव सम्बन्धः॥ ८॥
कथं तर्ह्यलिङ्गस्य दर्शनमुपपद्यत इत्युच्यते—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ ९॥

अस्य (पूर्वोक्तस्य आत्मनः) रूपं (स्वरूपं) संदृशे (दर्शनविषये) न तिष्ठति,
] कश्चन (कोऽपि) एनं (पुरुषं) चक्षुषा न पश्यति। मनीषा (विकल्पहीनया)
(हृदयस्थबुद्धया) मनसा (मननेन-सम्यग्दर्शनेन) अभिक्लृप्तः (अभिप्रका-
अभिज्ञातः भवति) ये (जनाः) एतद् (ब्रह्म) विदुः (जानन्ति) ते अमृताः
॥ ९॥

स आत्माका रूप दृष्टिमें नहीं ठहरता, अतः उसे नेत्रसे कोई भी देख नहीं सकता।
रमा तो मनका नियमन करनेवाली हृदयस्थ बुद्धिद्वारा मननरूप सम्यग्दर्शनसे
त हुआ ही ज्ञात हो सकता है। जो इसे [ब्रह्मरूपसे] जानते हैं वे अमर
हैं॥ ९॥

संसार धर्मोंसे रहित है। जिसे शास्त्र और आचार्य द्वारा जानकर पुरुष जीवित
अविद्या आदि हृदयकी ग्रन्थियोंसे मुक्त हो जाता है तथा शरीरका पात होनेपर
रत्वको प्राप्त हो जाता है वह पुरुष अलिङ्ग है और अव्यक्तसे भी पर है। इस
इसका पूर्ववाक्यसे ही सम्बन्ध है॥ ८॥
फिर इस अलिङ्ग आत्माका दर्शन कैसे संभव होगा? सो कहा जाता है—

सत्यानन्दीदीपिका

कहनेवाली श्रुतिसे विरोध होगा और आत्माके साथ बुद्धि आदिका अविनाभाव
हीं है, अतः आत्मा निर्गुण निष्क्रिय होनेसे अलिङ्ग है। 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवा-
त्' (मुण्ड० १।१२) इत्यादि श्रुति शास्त्र और आचार्यसे प्राप्त तत्त्वज्ञानसे
हृदयग्रन्थिः' अविद्या आदि हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है।
ब्रह्मैव भवति' (मुण्डक० ३।९) 'अत्रैव ब्रह्म समश्नुते'
सदा मुक्तः कृतार्थो ब्रह्मवित्तमः। उपाधिनाशाद्ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति निर्द्वयम्॥
त्वेऽप्यभिमानहानाद्ब्रह्मात्मविद्ब्रह्म भवेन्न चान्यः। 'अभितो ब्रह्मनिर्वाण
दितात्मनाम्' (गीता ५।२६) 'शरीररूप उपाधि [illegible]

न सदृशे संदर्शनविषये न तिष्ठति प्रत्यगात्मनोऽस्य रूपम् । अतो
सर्वेन्द्रियेण, चक्षुर्ग्रहणस्योपलक्षणार्थत्वात्, पश्यति नोपलभते कश्चन
त्येनं प्रकृतमात्मानम् । कथं तर्हि तं पश्येदित्युच्यते । हृदा हृत्स्थया
मनीषा मनसः सङ्कल्पादिरूपस्येष्टे नियन्तृत्वेनेति मनीट् तया हृदा म:
कल्पयित्र्या मनसा मननरूपेण सम्यग्दर्शनेन अभिक्लृप्तोऽभिसमा
प्रकाशित इत्येतत् । आत्मा ज्ञातुं शक्यत इति वाक्यशेषः । र
ब्रह्मैतद्ये विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥

इस प्रत्यगात्माका रूप संदर्शन-दृष्टिके विषयमें स्थिर नहीं होता, अतः को
प्रत्यगात्माको चक्षुसे-सब इन्द्रियोंसे अर्थात् सभी इन्द्रियोंमेंसे किसीसे भी नहीं दे
उपलब्ध नहीं कर सकता । यहाँ चक्षु ग्रहण अन्य सभी इन्द्रियोंका उपलक्ष
[अतः चक्षु इन्द्रियके ग्रहणसे सभी इन्द्रियोंका ग्रहण है] तो फिर उसे कि
देखे ? इसपर कहते हैं—हृदा-हृदयस्थ बुद्धिसे, जो सङ्कल्पादिरूप मनकी नियन
ईशन करनेके कारण 'मनीट्' है । उस विकल्प शून्य बुद्धिसे मन अर्थात् मननरू
दर्शन (जीवब्रह्मैक्यज्ञान) द्वारा सब प्रकार समर्पित-अभिप्रकाशित हुआ व
जाना जा सकता है, यह वाक्यशेष है, उस आत्माको जो लोग 'यह ब्रह्म
जानते हैं वे अमर हो जाते हैं ॥ ९ ॥

सत्यानन्दीदीपिका

'कथं तर्हि दर्शनमुपपद्यते' तब उस प्रत्यगात्माका दर्शन कैसे हो सकता है
प्रश्नकर्ताका अभिप्राय विषयरूपसे दर्शन है अथवा अविषयरूपसे ? प्रथम तो '
से कहते हैं । 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं···' (क० १।३।१५) आदि श्रुति
रूपादि रहित कहती है, अतः रूपादि पाँचो गुणोंसे अतीत आत्मा चक्षु आदि
ग्रहण योग्य नहीं है । द्वितीय विकल्पको 'कथं तर्हि' से कहते हैं । चक्षु आदि बा
समुदाय उपरत होनेपर जब मन विषयोंका संकल्प करता है तब मुमुक्षुकी बुद्धि
नियन्त्री होती है–हे मन ! किसलिए तू पिशाचके समान इतस्ततः दौड़ता है, विषय
तथा जड़ हैं, अतः उनसे अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए विषय
शून्य 'ब्रह्मास्मि' इस प्रकार अविषयरूपसे ही ब्रह्मभावको अभिव्यक्त करनेवा
ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्योंसे उत्थ बुद्धि-वृत्तिसे प्रत्यगात्मस्वरूप
सकता है । मुझसे देखे जानेवाले जैसे बाह्य घटादि मैं नहीं हूँ वैसे ही शरीर आदि
भी दृश्य होनेके कारण मैं नहीं हूँ, किन्तु सबका साक्षी चेतन हूँ, ऐसा निश्चय
वाला अमर हो जाता है 'तमेवं ज्ञात्वा विद्वान् इहैवामृता भवन्ति' [illegible]

सा हृन्मनोट् कथं प्राप्यत इति तदर्थो योग उच्यते—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥ १० ॥

यदा पञ्च ज्ञानानि (इन्द्रियाणि) मनसा स अवतिष्ठन्ते (विषयेभ्य व्यावृत्त मुखतया तिष्ठन्ति) बुद्धिः च न विचेष्टते (विषयव्यापारं न करोति) तां परां गतिम् । (वदन्ति) ॥ १० ॥

जिस समय पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मनके साथ [आत्मामें] स्थित हो जाती हैं और भी चेष्टा नहीं करती उस अवस्थाको परम गति कहते हैं ॥ १० ॥

यदा यस्मिन्काले स्वविषयेभ्यो निवर्तितान्यात्मन्येव पञ्च ज्ञानानि-ज्ञानार्थ-च्छ्रोत्रादीनीन्द्रियाणि ज्ञानान्युच्यन्ते, अवतिष्ठन्ते सह मनसा यदनुगतानि संकल्पादिव्यावृत्तेनान्तःकरणेन, बुद्धिश्चाध्यवसायलक्षणा न विचेष्टति स्व-पारेषु न विचेष्टते न व्याप्रियते तामाहुः परमां गतिम् ॥ १० ॥

वह हृदयस्थित सङ्कल्प शून्य बुद्धि कैसे प्राप्त होती है ? इसके लिए योगसाधन जाता है—

जिस समय अपने अपने विषयोंसे निवृत्त हुई पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ-ज्ञानार्थक होनेके श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ 'ज्ञान' कही जाती हैं, मनके साथ अर्थात् जिसका अनुवर्तन हैं उस सङ्कल्पादि व्यापारसे निवृत्त हुए अन्तःकरण सहित आत्मामें स्थिर हो हैं और निश्चयात्मिका बुद्धि भी अपने व्यापारोंमें चेष्टा नहीं करती-व्यापार नहीं उस अवस्थाको परम गति कहते हैं ॥ १० ॥

सत्यानन्दीदीपिका

दान्त वाक्योंके श्रवण करनेपर भी जिनमें 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार स्थिर बुद्धि खी जाती, इससे यह सिद्ध होता है कि उनमें कोई प्रतिबन्धक है, उसकी के लिए 'सा हृन्मनीट्' आदिसे उपायान्तर कहते हैं—

दान्तके श्रवण, मननसे यद्यपि प्रमेय विषयक असंभावना निवृत्त हो चुकी है फिर के अनेकाग्रतारूप दोष प्रतिबन्धकके निवृत्त्यर्थ अनुष्ठेय योगका उपदेश किया है । 'ज्ञायतेऽनेनार्थ इति ज्ञानम्' (जिससे विषय ज्ञात होता है) इस करण-

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।

अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ ११ ॥

ताम् (उक्तलक्षणां) स्थिरां (निश्चलाम्) इन्द्रियधारणां 'योगम्' इति मन्य
ा अप्रमत: (प्रमादरहित:) भवति । हि (यस्मात्) योग: प्रभवाप्ययौ (उ
ाायधर्मको) भवति ॥ ११ ॥

उस स्थिर इन्द्रियधारणाको ही योग कहते हैं । उस समय पुरुष प्रमादरहित
ता है, क्योंकि योग उत्पत्ति और लय धर्मवाला है ॥ ११ ॥

तामीदृशीं तदवस्थां योगमिति मन्यन्ते वियोगमेव सन्तम् । सर्वानर्थसंयं
ोगलक्षणा हीयमवस्था योगिनः । एतस्यां ह्यवस्थायामविद्याध्यारोपणाव
स्वरूपप्रतिष्ठ आत्मा । स्थिरामिन्द्रियधारणां स्थिरामचलामिन्द्रियधार
ान्तःकरणानां धारणमित्यर्थः । अप्रमत्तः प्रमादवर्जितः समाधानं प्र
यं यत्नवांस्तदा तस्मिन्काले यदैव प्रवृत्तयोगो भवतीति सामर्थ्यादवगम्यं

उस ऐसी अवस्थाको जो वस्तुतः वियोग ही है योग मानते हैं, क्योंकि योगीकी
स्था सब प्रकारके अनर्थसंयोगकी वियोगरूपा है । इस अवस्थामें ही आत्मा अविद्य
ारोपसे रहित अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित रहता है । उस अवस्थाको ही स्थिर इन्
णा कहते हैं । स्थिर-अचल इन्द्रियधारणा अर्थात् बाह्य और आन्तरिक करणोंका धा
ा ऐसा अर्थ है । तब साधक पुरुष अप्रमत्त-प्रमादरहित अर्थात् चित्त समाधानके प्र
सर्वदा सयत्न रहता है, जिस समय कि वह योगमें प्रवृत्त होता है [उस स
स्थिति होती है] ऐसा वाक्यकी सामर्थ्यसे अवगत होता है, क्योंकि बुद्धि आदि

सत्यानन्दीदीपिका

सर्वानर्थके वियोगको ही विरुद्धलक्षणासे योग कहा गया है । जैसे बाह्य घटा
'मैं नहीं हूँ' वैसे देहादि संघातमें भी जो जो विषय है वह 'मैं नहीं हूँ' किन्तु इ
समुदायका साक्षी सर्वगत प्रत्यगभिन्न ब्रह्म मैं हूँ ऐसी ब्रह्माकारवृत्ति संपाद
चाहिए । यदि कदाचित् विषयोंसे चित्त विक्षिप्त हो तो उसे विषयदोष दर्शन
त करे ।

न्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च । जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
ा० १३।८) ऐसा गीतावचन भी है । विषयोंसे व्यावृत्त मन यदि रागा
हो तो वह उसकी कषायावस्था है । उससे निरुद्ध चित्त न जागता न सोता
ध्यावस्थावाला और न रसस्वादयुक्त केवल ब्रह्मावभासरूपसे जब क्षीण

द्ध्यादिचेष्टाभावे प्रमादसंभवोऽस्ति। तस्मात्प्रागेव बुद्ध्यादिचेष्टोपर-
दो विधीयते। अथवा यदैवेन्द्रियाणां स्थिरा धारणा तदानीमेव निरङ्कुश-
त्वमित्यतोभिधीयतेऽप्रमत्तस्तदा भवतीति। कुतः? योगो हि यस्मात्प्र-
गावुपजनापायधर्मक इत्यर्थोऽतोऽपायपरिहारायाप्रमादः कर्तव्य इत्यभि-
११ ॥

ध्यादि चेष्टाविषयं चेद् ब्रह्मेदं तदिति विशेषतो गृह्येत बुद्ध्याद्युपरमे च
रणाभावादनुपलभ्यमानं नास्त्येव ब्रह्म। यद्धि करणगोचरं तदस्तीति
लोके विपरीतं चासदित्यतश्चानर्थको योगोऽनुपलभ्यमानत्वाद्वा नास्ती-
तव्यं ब्रह्मेत्येवं प्राप्त इदमुच्यते—सत्यम्,

आत्मोपलब्धिका साधन सद्बुद्धि ही है

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ १२ ॥

षयमें चेष्टाका अभाव हो जानेपर प्रमादका संभव नहीं है, अतः बुद्धि आदिकी
परत होनेसे पूर्व ही अप्रमादका विधान किया जाता है अथवा जिस समय
धारणा स्थिर होती है उसी समय निरङ्कुश अप्रमत्तत्व होता है, इस कारण
मय अप्रमत्त होनेका विधान किया जाता है, क्योंकि योग भी प्रभव और
त्ति और लयरूप धर्मवाला है, अतः भाव यह है कि अप्यय-लयकी निवृत्तिके
ाद करना चाहिए अर्थात् योगीको प्रमादरहित होना चाहिए, ऐसा अभि-
११ ॥

ब्रह्म बुद्धि आदिकी चेष्टाका विषय होता तो 'यह ब्रह्म है' ऐसा विशेषरूपसे
ा, किन्तु बुद्धि आदिके उपरत हो जानेपर तो उसे ग्रहण करनेके कारणका
से उपलब्ध न होता हुआ वह ब्रह्म है ही नहीं, क्योंकि लोकमें जो वस्तु
र होती है वह 'है' ऐसी प्रतीतिका विषय होती है और इसके विपरीत-
र वस्तु 'असत्' कही जाती है, अतः योग अनर्थक-व्यर्थ है अथवा उपलभ्य-
से ब्रह्म 'नहीं है' ऐसा जानना चाहिए, ऐसा प्राप्त होनेपर यह कहा जाता
—

सत्यानन्दीदीपिका

शरो ह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥
माणे तु विघ्नान्यायान्ति वै बलात्। अनुसंधानराहित्यमालस्यं भोगलालसम् ॥
विक्षेपस्तेजः स्वेदाश्च शून्यता। एवं विघ्नबाहुल्यं त्याज्यं ब्रह्मविशारदैः ॥

वाचा (शब्देन) न एव, मनसा (अन्तःकरणेन) न, चक्षुषा न प्राप्तुं (श
शक्यः । 'अस्ति' इति ब्रुवतः (आत्मास्तित्ववादिनः) अन्यत्र (नास्तिकवादिनि
आत्मस्वरूपं) कथम् उपलभ्यते ॥ १२ ॥

यह आत्मा न तो वाणीसे, न मनसे और न नेत्रसे प्राप्त किया जा सकता है
है' ऐसा कहनेवालोंसे अन्यत्र भिन्न पुरुषोंको कैसे उपलब्ध हो सकता है ? ॥ १२

नैव वाचा न मनसा न चक्षुषा नान्यैरपीन्द्रियैः प्राप्तुं शक्यत इत्य
थापि सर्वविशेषरहितोऽपि जगतो मूलमित्यवगतत्वादस्त्येव कार्यप्रविल
यास्तित्वनिष्ठत्वात् । तथा हीदं कार्यं सूक्ष्मतारतम्यपारम्पर्येणानुगम्य
द्बुद्धिनिष्ठामेवावगमयति । यदापि विषयप्रविलापनेन प्रविलाप्यमाना बु
तदापि सा सत्प्रत्ययगर्भैव विलीयते । बुद्धिर्हि नः प्रमाणं सदसतोर्याथात
गमे ।

मूलं चेज्जगतो न स्यादसदन्वितमेवेदं कार्यमसदित्येवं गृह्येत न त्वेतत
त्सदित्येव तु गृह्यते; यथा मृदादिकार्यं घटादि मृदाद्यन्वितम् । तस्माज्ज

यद्यपि वह ब्रह्म न तो वाणीसे, न मनसे न नेत्रसे और न अन्य इन्द्रियोंसे
त किया जा सकता है, यह तात्पर्य है । तथापि सर्वविशेष रहित होता भी
त्का मूल है' ऐसा अवगत होनेसे वह है ही, क्योंकि कार्यका विलय अस्तित्व
होता है । इसीप्रकार सूक्ष्मताकी तारतम्यपरम्परासे अनुगत होनेवाला यह काय
बुद्धि निष्ठाको ही अवगत कराता है । जब भी विषयविलय करते बुद्धिका विलय कि
ा है उस समय भी वह सत्प्रत्यय गर्भिता हुई ही लीन होती है । तथा सत्
त्का यथार्थ स्वरूप जाननेमें तो हमारे लिए बुद्धि ही प्रमाण है । यदि जगत
न होता तो यह कार्यवर्ग असदन्वित हुआ 'असत् है' ऐसा गृहीत होता, परन्तु

सत्यानन्दीदीपिका

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच विषयोंका ज्ञान क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, च
। और घ्राण इन्द्रियोंसे होता है । ब्रह्म शब्दादिसे रहित है, अतः वह श्रोत्र
ो इन्द्रियसे गृहीत नहीं होता, 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च य
5० ३।१५) इत्यादि श्रुति भी ब्रह्ममें शब्दादिका निषेध करती है । इससे
पता नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि घटादिस्थूल कार्यका विलय होने
ाह सूक्ष्म कारणरूपसे विद्यमान है । उसका विलय होनेपर उससे भी सूक्ष्मकारण
मकार सूक्ष्म तारतम्यपरम्परासे अनुभूयमान कार्यका विलय ही पुरुषके लिए सद्बु

सारिणः श्रद्धधानादन्यत्र नास्तिकवादिनि नास्ति जगतो मूलमात्मा निर-
न्वयं कार्यमभावान्तं प्रविलीयत इति मन्यमाने विपरीतदर्शिनी कथं
तत्त्वत उपलभ्यते न कथञ्चनोपलभ्यत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

स्मादपोह्यासद्वादिपक्षमासुरम्—

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ १३ ॥

भयोः (सोपाधिकनिरुपाधिकयोः) तत्त्वभावेन (तत्त्वरूपेण) अस्ति (सत्)
उपलब्धव्यः 'अस्ति' इति (एवम्) उपलब्धस्य (ज्ञातस्य) तत्त्वभावः
।।१३।

आत्मा 'है' इस प्रकार ही उपलब्ध किया जाना चाहिए तथा उसे तत्त्वभावसे
ना चाहिए। इन दोनों प्रकारकी उपलब्धियोंमेंसे जिसको 'है' इस प्रकारकी
ब्ध हो गयी है, तत्त्वभाव उसके अभिमुख हो जाता है ॥ १३ ॥

स्तीत्येवात्मोपलब्धव्यः सत्कार्यो बुद्ध्याद्युपाधिः । यदा तु तद्रहितोऽवि-

हीं है, यह जगत् 'है' इस प्रकार गृहीत होता है, अतः 'जगत्का मूल आत्मा है'
लब्ध करना चाहिए। क्यों ? क्योंकि आत्मा 'है' इस प्रकार कहनेवाले शास्त्रा-
श्रद्धालु आस्तिक पुरुषोंसे भिन्न नास्तिकवादियोंको जो ऐसा मानते हैं कि जगत्का
मा नहीं है, यह कार्यवर्ग कारणसे अनन्वित-असम्बद्ध हुआ अभाव पर्यन्त लीन
है ऐसे उन विपरीत दर्शियोंको वह ब्रह्म किस प्रकार तत्त्वतः उपलब्ध हो
? अर्थात् किसी प्रकार भी उपलब्ध नहीं हो सकता है ॥ १२ ॥

: असद्वादियोंके आसुरीपक्षका निराकरणकर—

—उपलभ्यमान कार्य बुद्धि आदि उपाधिवाले आत्माको 'है' इस प्रकार ही

सत्यानन्दीदीपिका

विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' (गी० २।१६) यह स्मृति वचन भी
कार्य जगत्का विलय ब्रह्म तक होता है, इससे वह लय सद्ब्रह्मनिष्ठ है। 'जो
ह असत् है जैसे स्वप्न दृश्य' इस व्याप्तिदर्शनसे अस्तित्वेन सब दृश्य असत्
सकी सद्बुद्धि भी नहीं होगी ऐसी शङ्काका निवारण 'यदापि' से करते हैं।
में सद्बुद्धि भी नहीं है ऐसा प्रत्यय अवश्य स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा
वहार नहीं होगा। इसलिए अन्ततोगत्वा सद्बुद्धि स्वीकार करनी चाहिए।

निर्व आत्मा भाव च कारणव्यतिरेकेण नास्ति 'वाचारम्भणं विकारो
मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० ६।१।४) इति श्रुतेस्तदा यस्य निरुपा
लिङ्गस्य सदसदादिप्रत्ययविषयत्ववर्जितस्यात्मनः तत्त्वभावो भवति तेन
त्मोपलब्धव्य इत्यनुवर्तते । तत्राप्युभयोः सोपाधिकनिरुपाधिकयो
तत्त्वभावयोःनिर्धारणार्था षष्ठी-पूर्वमस्तीत्येवोपलब्धस्यात्मनः सत्का
कृतास्तित्वप्रत्ययेनोपलब्धस्य इत्यर्थः । पश्चात्प्रत्यस्तमितसर्वोपाधिरूप
नस्तत्त्वभावो विदिताविदिताभ्यामन्योऽद्वयस्वभावः 'नेति नेति' (बृह
६।२६) इति 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' (बृह ३।८।८) 'अदृश्येऽनात्म्येऽनु

उपलब्ध करना चाहिए । जिस समय आत्मा इस बुद्धि आदि उपाधिसे र
निर्विकार जाना जाता है तथा कार्यवर्ग 'विकार वाणीका विलास और नाम
केवल मृत्तिका ही सत्य है' इस श्रुतिके अनुसार अपने कारणसे भिन्न नहीं
निश्चित होता है, उस समय जिस निरुपाधिक अलिङ्ग सदसद् आदि प्रतीतिके वि
रहित आत्माका तत्त्वभाव होता है । उस तत्त्वस्वरूपसे ही आत्माको उपल
चाहिए इस प्रकार यहाँ 'उपलब्धव्य' पदकी अनुवृत्ति की जाती है । सोपाधिक
और निरुपाधिक तत्त्वभाव इन दोनोंमेंसे यहाँ 'उभयोः' इस पदमें षष्ठी निर्धारण
है, पहले तो 'है' इस प्रकार उपलब्ध हुए आत्माका अर्थात् सत्कार्यरूप उपाधि
हुए अस्तित्व प्रत्ययसे उपलब्ध हुए आत्माका पश्चात् निवृत्त हुए सम्पूर्ण उपा
जो ज्ञात एवं अज्ञातसे भिन्न अद्वितीय स्वरूप है, उसे 'नेति नेति' (यह नहीं यह
'अस्थूलम०' (जो न स्थूल न अणु और न ह्रस्व है) 'अदृश्ये०' (जो अ
अनात्म्यमें, अनिर्वचनीयमें आधार रहितमें) इत्यादि श्रुतियोंसे निर्दिष्ट अ
तत्त्वभाव प्रसीदति–अभिमुख होता है अर्थात् जिसे पहले 'है' इस प्रकार अ

सत्यानन्दीदीपिका

लोकमें प्रत्येक पदार्थ अस्ति, भाति, प्रिय, नाम और रूपसे दृष्टिगोचर होता है
प्रथम तीन सबमें अनुस्यूत होनेसे आत्मस्वरूप हैं और अन्तिम नाम, रूप दोनों
हैं और उनमें व्यभिचार निश्चित है, अतः जगद्रूप नाम, रूप मिथ्या है । उन प्रथम
से पहले 'आत्मा अस्ति' 'आत्मा है' ऐसा निश्चय होता है पश्चात् भाति और
अनुभूति होती है अर्थात् आत्माका यथार्थस्वरूप सत्-चित्-आनन्द है । इस
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' 'सिद्धान्तोऽध्यात्मशास्त्राणां सर्व
त्व हि । नाविद्यास्तीह नो माया शान्तं ब्रह्मेदमक्लयम्' ॥ इत्यादि श्रुति भी है ।
अनुभूति तो निरुपाधिक अद्वितीय चिन्मय आत्मतत्त्वसे होती है । सोपाधिक ब्रह्म तो

मस्तीत्युपलब्धवत् इत्येतत् ॥ १३ ॥

अमर कब होता है ?

परमार्थदर्शिनोः—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ १४ ॥

। (विदुषः,) हृदि श्रिताः (अन्तःकरणगताः) सर्वे कामाः (वासनाः) यदा , अथ (अनन्तरं) मर्त्योः (मरणशीलः मनुष्यः) अमृतो (मुक्तो) त्र (अस्मिन् देहे) ब्रह्म समश्नुते (भवति) ॥ १४ ॥

समय इसके हृदय आश्रित सब कामनाएँ छूट जाती हैं, उस समय वह मर्त्य र हो जाता है और इस शरीरसे ही ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ १४ ॥

ा यस्मिन्काले सर्वे कामाः कामयितव्यस्यान्यस्याभावात्प्रमुच्यन्ते विशी- ऽस्य प्राक्प्रतिबोधाद्विदुषो हृदि बुद्धौ श्रिता आश्रिताः । बुद्धिर्हि कामा- यो नात्मा । 'कामः संकल्पः' (बृह० १।५।३) इत्यादिश्रुत्यन्तराच्च ।

हो गई है उसे अपना स्वरूप अभिव्यक्त करनेके लिए यह तत्त्वभाव अभिमुख- होता है ॥ १३ ॥

प्रकार परमार्थदर्शीकी—

-जिस समय सब कामनाएँ कामनायोग्य अन्य पदार्थका अभाव होनेके कारण ी हैं-छिन्न भिन्न हो जाती हैं, जो कि तत्त्वज्ञान होनेसे पूर्व इस विद्वान्‌के हृदय- ाश्रित रहती हैं, क्योंकि बुद्धि ही कामनाओंका आश्रय है आत्मा नहीं, कारण : सङ्कल्पः'''[यह सब मन ही है] इत्यादि अन्य श्रुति भी है । तब फिर जो

सत्यानन्दीदीपिका

ोंके विचारमें हेतु है । सोपाधिक ब्रह्म उपास्य है और निरुपाधिक ब्रह्म ज्ञेय ोके ज्ञानसे मुक्ति संभव है, इसमें 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' श्रुति प्रमाण है ॥ १३ ॥

प्राप्ति और अनिष्ट निवृत्तिके लिए ही कामना उत्पन्न होती है । तत्त्वबोधसे यही समझता है कि इष्टकी प्राप्ति इष्ट पदार्थकी प्राप्तिसे और अनिष्टकी निवृत्ति ार्थके निवृत्त होनेसे होती है, अतः उनकी प्राप्ति और परिहारके लिए बाह्य प्रवृत्ति और निवृत्ति करता है । परन्तु जब इष्ट प्राप्तिका सही साधन-आत्मैकत्व

. . . . नाप्रवाधादासात्स प्रबाधात्तरकालमविद्याकामक
णास्य मृत्योर्विनाशादमृतो भवति। गमनप्रयोजकस्य मृत्योर्विनाशादुगम
पत्तेरत्रैव प्रदीपनिर्वाणवत्सर्वबन्धनोपशमाद् ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मैव
तीत्यर्थः ॥ १४ ॥

कदा पुनः कामानां मूलतो विनाश इत्युच्यते—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्धयनुशासनम् ॥ १५ ॥

इह (देहे) सर्वे ग्रन्थयः यदा प्रभिद्यन्ते (विनश्यन्ति) अथ (तदा)
मृतः (मुक्तः) भवति । एतावत् हि (एव) अनुशासनम् (उपदेशः) ॥ १५ ॥

जिस समय इस जीवनमें ही इसके हृदयकी सभी ग्रन्थियोंका भेदन हो जा
स समय यह मरणधर्मा जीव अमृत हो जाता है, बस सभी वेदान्तोंका इत
पदेश है ॥ १५ ॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते भेदमुपयान्ति विनश्यन्ति हृदयस्य बुद्धेरिह जीवत
न्थयो ग्रन्थिवद् दृढबन्धनरूपा अविद्याप्रत्यया इत्यर्थः। अहमिदं शरीरं

त्मसाक्षात्कारसे पूर्व मरणधर्मा था वह जीव आत्मज्ञान होनेके अनन्तर अवि
मना और [यज्ञादि] कर्मरूप मृत्युका नाश हो जानेसे अमर हो जाता है । पर
गमनके प्रयोजक मृत्युका विनाश हो जानेसे वहाँ गमन असंभव होनेके कारण
ो देहमें दीप-निर्वाणके समान सभी बन्धनोंके उपशान्त-नष्ट हो जानेसे ब्रह्मभा
न हो जाता है अर्थात् ब्रह्म ही हो जाता है ॥ १४ ॥

परन्तु कामनाओंका मूलतः विनाश कब होता है ? इसपर कहते हैं—

जिस समय जीवित रहते ही इसके हृदयकी-बुद्धिकी सब ग्रन्थियाँ-ग्रन्थिके स
त् बन्धनरूप अविद्याजनित प्रतीतियाँ छिन्न भिन्न होती-भेदको प्राप्त होती-वि

सत्यानन्दीदीपिका

गोपासककी सभी कामनाएँ शान्त हो जाती हैं और ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, 'ब्रह्मै
व भवति' ऐसी श्रुति है । 'कामा येऽस्य हृदि श्रिताः' यह श्रुति वाक्य वैशेषिक म
का खण्डन करता है जो आत्माको कामनाओंका आश्रय मानते हैं, 'कामः सङ्कल्प
चिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव (बृह० १।५।३
अन्य श्रुति भी ऐसा कहती है कि 'ये सब मनकी वृत्तियाँ हैं' ॥ १४ ॥

यद्यपि कामनाओंका . . . . . .

दुःखी चाहमित्येवमादिलक्षणास्तद्विपरीतब्रह्मात्मप्रत्ययोपजननाद्
ऽस्म असंसारीति विनष्टेष्वविद्याग्रन्थिषु तन्निमित्ताः कामा मूलतो
। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्येतावदेवैतावन्मात्रं नाधिकमस्ती-
र्तव्या। अनुशासनमनुशिष्टिरुपदेशः सर्ववेदान्तानामिति वाक्य-
॥

शेषविशेषव्यापिब्रह्मात्मप्रतिपत्त्या प्रभिन्नसमस्ताविद्यादिग्रन्थेर्जीवत
स्य विदुषो न गतिर्विद्यत इत्युक्तमत्र ब्रह्म समश्नुत इत्युक्तत्वात्।
णा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृह ४।४।६) इदि श्रुत्यन्त-

---

यह अर्थ है—'यह शरीर मैं हूँ' यह धन मेरा है, मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ'
रके अनुभव अविद्या प्रत्यय हैं। उसके विपरीत ब्रह्मात्मभावके अनुभवकी
असंसारी ब्रह्म हूँ' ऐसे तत्त्वज्ञान द्वारा अविद्याजनित ग्रन्थियोंके विनष्ट हो
मित्तक कामनाएँ भी मूलतः नष्ट हो जाती हैं, तब वह मर्त्य अमर हो
र इतना ही सम्पूर्ण वेदान्तोंका उपदेश है, इससे अधिक कुछ और है ऐसी
करनी चाहिए। यहाँ 'सर्ववेदान्तानाम्, यह वाक्यशेष है ॥ १५ ॥

सम्पूर्ण गुण क्रिया आदि विशेषोंका अभाव है उस सर्वव्यापक ब्रह्मको
ान लेनेके कारण जिसकी अविद्या आदि समस्त ग्रन्थियाँ नष्ट हो गयी हैं
ं ही ब्रह्मभावको प्राप्त हुए ऐसे विद्वान्का कहीं गमन नहीं होता, ऐसा
ा है, क्योंकि 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' (कठ० ६।१४) (इस शरीरमें ही
त हो जाता है) ऐसा कहा गया है। 'न तस्य०' (उस ब्रह्मवित्के प्राण
करते, वह ब्रह्मवित् हुआ ही ब्रह्ममें लीन हो जाता है) यह अन्य श्रुति
जो मन्द ब्रह्मज्ञानी हैं और अन्यविद्या-उपासनाका परिशीलन करनेवाले
के अधिकारी हैं अथवा जो उनसे विपरीत जन्ममरणरूप संसारके भागी

सत्यानन्दीदीपिका

त्मा और अन्तःकरण आदि अनात्मा इन धर्मियों और इनके धर्मोंका
ो अन्योन्यमें तादात्म्याध्यास है, वही चिद्जड़ग्रन्थि है।

न्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥
) (उस ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर उस ब्रह्मवित्की अविद्या और तज्जनित
ष्ट हो जाती है, आत्मविषयक सभी संशय निवृत्त हो जाते हैं और कर्म

च। य पुनर्मन्दब्रह्मविदो विद्यान्तरशीलिनश्च ब्रह्मलोकभाजो ये च तद्वि
ताः संसारभाजस्तेषामेव गतिविशेष उच्यते प्रकृतोत्कृष्टब्रह्मविद्याफलस्तुतये
ञ्चान्यदग्निविद्या पृष्टा प्रयुक्ता च। तस्याश्च फलप्राप्तिप्रकारो वक्तव्य इ
न्त्रारम्भः। तत्र—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥१

हृदयस्य शतं च एका च (एकोत्तरशतं) नाड्यः [सन्ति] तासां (मध्ये) ए
र्धानमभि (प्रति) निःसृता (मूर्द्धपर्यन्तंगता) तया ऊर्ध्वम् आयन् (गच्छन्) अमृतत
ति। अन्याः (शतनाड्यः) विष्वगुत्क्रमणे (लोकान्तरगमनार्थं) भवन्ति ॥ १६ ॥

इस हृदयकी एक सौ एक नाड़ियाँ हैं, उनमेंसे एक मूर्धाका भेदनकर बाहर
कली है, उसके द्वारा ऊर्ध्व-ऊपरकी ओर गमन करनेवाला पुरुष अमरत्वको प्र
ता है। शेष विभिन्न गति युक्त नाड़ियाँ उत्क्रमण-प्राणोत्सर्गमें हेतु होती हैं ॥ १६

शतं च शतसंख्याका एका च सुषुम्ना नाम पुरुषस्य हृदयाद्विनिसृता नाड
ारास्तासां मध्ये मूर्धानं भित्त्वाभिनिःसृता निर्गता सुषुम्ना नाम। तया
ाले हृदय आत्मानं वशीकृत्य योजयेत्। तया नाड्योर्ध्वमुपर्यायन्गच्छन्ना
द्वारेणामृतत्वममरणधर्मत्वमापेक्षिकम्। 'आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं

। उन्हींकी किसी गति विशेषका वर्णन यहाँ प्रकरण प्राप्त ब्रह्मविद्याके उत्कृष्ट फल
ुतिके लिए किया जाता है। इसके अतिरिक्त अग्निविद्याके विषयमें नचिकेताके पू
र यमराजने उसका वर्णन किया और उस अग्निविद्याके फलकी प्राप्तिका प्र
ो कहना चाहिए, इस अभिप्रायसे इस मन्त्रका आरम्भ किया जाता है। वहाँ [क
ह है कि—]

पुरुषके हृदयसे सौ और सुषुम्ना नामकी एक इस प्रकार एक सौ एक नाड़ि
ाराएँ निकली हैं। उनमें सुषुम्ना नामकी नाड़ी मूर्धाका भेदनकर निकली है। इ
ालमें उसके द्वारा आत्मा-मनको अपने हृदय देशमें वशीभूतकर समाहित करे।
ाड़ीके द्वारा ऊर्ध्व-ऊपरकी ओर जाकर जीव आदित्यमण्डलके द्वारा अमृतत्व-आपे
मरणधर्मत्वको प्राप्त होता है, क्योंकि 'आभूतसंप्लवं०' (सब भूतोंके क्षय-प्रलयप

सत्यानन्दीदीपिका

प्रकरण विच्छेद द्वारा उक्त सम्बन्धको 'निरस्ताशेष०' इत्यादिसे दिखलाते हैं—

इड़ादि सौ और सुषुम्ना-ब्रह्मनाड़ी एक इस प्रकार एक सौ एक नाड़ी पुरुषके हृद
ाश्रित होकर रहती हैं। 'एकोत्तरंनाडीशतं तस्य मध्ये परा स्थिता। ...

त' (वि० पु० २।८।९७) इति स्मृतेः । ब्रह्मणा वा सह कालान्तरेण ममृतत्वमेति भुक्त्वा भोगाननुपमान्ब्रह्मलोकगतान् । विष्वङ् नानाविध- ोऽन्या नाड्य उत्क्रमणे निमित्तं भवन्ति संसारप्रतिपत्त्यर्था एव भवन्ती- ॥ १६ ॥

इदानीं सर्ववल्ल्यर्थोपसंहारार्थमाह—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रमृतमिति ॥ १७ ॥

ाङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः अन्तरात्मा सदा जनानां (प्राणिनां) हृदये सन्निविष्टः (स्थितोऽ- मुञ्जात् (तदाख्यतृणात्) इषिकां (गर्भस्थदलम्) इव स्वात् शरीरात् तं धैर्येण (पृथक् कुर्यात्) तं (देहात् निष्कृष्टं) शुक्रं (शुद्धम्) अमृतं विद्यात् ानीयात्) ॥ १७ ॥

ाङ्गुष्ठमात्र पुरुष जो अन्तरात्मा है और सर्वदा प्राणियोंके हृदयदेशमें स्थित है । सींकके समान उसे धैर्य पूर्वक अपने शरीरसे बाहर निकाले अर्थात् शरीरसे र अनुभव करे । उसे शुक्र शुद्ध और अमृतरूप जाने, उसे शुक्र और अमृत- ने ॥ १७ ॥

ा स्थान अमृतत्व कहा जाता है) ऐसी स्मृति भी है । अथवा ब्रह्मलोक स्थित भोगोंको भोगकर कालान्तरमें ब्रह्माके साथ मुख्य अमृतत्वको प्राप्त होता है । गतिवाली अन्य नाड़ियाँ केवल प्राण प्रयाणमें हेतु हैं अर्थात् वे संसार प्राप्तिके होती हैं ॥ १६ ॥

ा सब वल्लियोंके अर्थका उपसंहार करनेके लिए कहते हैं—

सत्यानन्दीदीपिका

हो मूर्धाका भेदनकर निकली है । विद्वान् मरण समय अपने हृदयमें अन्तः- वशकर सुषुम्ना नाड़ी द्वारा मूलाधार आदि षट्चक्र भेदन पूर्वक ऊर्ध्व सहस्रार भी भेदनकर अपने अन्तःकरणके साथ सूर्यद्वारा ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है, क्षिक अमृतत्व है । सुषुम्ना नाड़ी द्वारा प्रयाण करनेवाले उपासककी यह गति कही ाष नाडियाँ तो केवल प्राण प्रयाणमें हेतु हैं [illegible]

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां सम्बन्धिनि हृद
यथाव्याख्यातस्तं स्वादात्मीयाच्छरीरात्प्रवृहेदुद्यच्छेन्निष्कर्षेत्पृथक्कु
किमिवेत्युच्यते मुञ्जादिव इषीकामन्तःस्थां धैर्येणाप्रमादेन। तं श
चिन्मात्रं विद्याद्विजानीयाच्छुक्रममृतं यथोक्तं ब्रह्मेति। द्विर्वचनः
समाप्त्यर्थमितिशब्दश्च ॥ १७ ॥

विद्यास्तुत्यर्थोऽयमाख्यायिकार्थोपसंहारोऽधुनोच्यते—

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृ
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममे

अथ (अनन्तरं) नचिकेतः मृत्युप्रोक्तां (यमेन कथिताम्) एतां
योगविधिं च लब्ध्वा (अधिगम्य) विरजः (निर्दोषः) विमृत्युः (मृत्युर
ब्रह्म प्राप्तः अभूत्। अन्योऽपि यः (कश्चित्) एवमध्यात्मम् एववित् (!
आत्मानं वेत्ति-जानाति) ॥ १८ ॥

मृत्यु-यमसे कही इस विद्या और सम्पूर्ण योगविधिको पाकर नचिकेता
प्राप्तकर विरज-धर्माधर्म रहित और मृत्यु हीन हो गया। अन्य भी जो क
तत्त्वको इस प्रकार जानेगा वह भी वैसा ही हो जायगा ॥ १८ ॥

मृत्युप्रोक्तां यथोक्तामेतां ब्रह्मविद्यां योगविधिं च कृत्स्नं समस्तं
सफलमित्येतत्; नचिकेता वरप्रदानान्मृत्योर्लब्ध्वा प्राप्येत्यर्थः, कि

अङ्गुष्ठमात्र पुरुष-अङ्गुष्ठपरिमाण पुरुष अन्तरात्मरूपसे सदा मनुष्य
सन्निविष्ट-विद्यमान है, जिसकी व्याख्या पहले (कठ० २।१।१२-१३) में
उसे अपने शरीरसे बाहर करे ऊपर नियन्त्रित करे अर्थात् शरीरसे पृथ
अर्थ है। किसकी तरह ? इसपर कहते हैं—धैर्य-अप्रमाद पूर्वक जैसे मूँजसे
सींक निकाली जाती हैं। शरीरसे पृथक् किये उस अङ्गुष्ठमात्र पुरुषको
चिन्मात्र विशुद्ध और अमृतमय ब्रह्म जाने। यहाँ 'तं विद्याच्छुक्रममृतम्'
द्विरुक्ति और 'इति' शब्द उपनिषद्की समाप्तिके लिए हैं ॥ १७ ॥

अब विद्याकी स्तुतिके लिए यह आख्यायिकाके अर्थका उपसंहार किया
मृत्युसे कही हुई इस पूर्वोक्त ब्रह्मविद्या और सम्पूर्ण योगविधि उसके स
फलसहित वरदानके कारण यमराजसे प्राप्तकर नचिकेता क्या हो गया ?

सत्यानन्दीदीपिका

ऽभून्मुक्तोऽभवदित्यर्थः। कथम् ? विद्याप्राप्त्या विरजो विगतधर्माधर्मो
युर्विगत कामाविद्यश्च सन्पूर्वमित्यर्थः। न केवलं नचिकेता एवान्योऽपि
केतोवदात्मविद्ध्यात्ममेव निरुपचरितं प्रत्यक्स्वरूपं प्राप्य तत्त्वमेवेत्यभि-
; नान्यद्रूपमप्रत्यग्रूपम्। तदेवमध्यात्ममेवमुक्तप्रकारेण वेद विजानातीत्ये-
सोऽपि विरजः सन्ब्रह्मप्राप्त्या विमृत्युर्भवतीति वाक्यशेषः॥ १८॥

शिष्याचार्ययोः प्रमादकृतान्यायेन विद्याग्रहणप्रतिपादननिमित्तदोषप्रशम-
ं शान्तिः उच्यते—

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै॥ १९॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

रमात्मा हम [आचार्य और शिष्य] दोनोंकी साथ साथ रक्षा करे। दोनोंका
ाथ पालन करे। हम दोनों साथ साथ विद्याकृत सामर्थ्य संपादित-प्राप्त करें।
नोंका किया हुआ अध्ययन तेजस्वी हो। हम परस्पर द्वेष न करें॥ १९॥

ह नावावामवतु पालयतु विद्यास्वरूपप्रकाशनेन। कः ? स एव परमेश्वर
त्प्रकाशितः। किं च सह नौ भुनक्तु तत्फलप्रकाशनेन नौ पालयतु।
वां विद्याकृतं वीर्यं सामर्थ्यं करवावहै निष्पादयावहै। किंच तेजस्विनौ

गया अर्थात् मुक्त हो गया। सो किस प्रकार ? [कहते हैं—] विद्याकी प्राप्ति
हले विरज-धर्माधर्म रहित और विमृत्यु-काम और अविद्यासे रहित हो [मुक्त
] ऐसा तात्पर्य है। केवल नचिकेता ही नहीं प्रत्युत नचिकेताके समान अन्य
ः आत्मवित् उपचार शून्य देहादिके अधिष्ठाता प्रत्यक्स्वरूपको प्राप्तकर यही तत्त्व
रूप नहीं, क्योंकि वह प्रत्यग्रूप नहीं है ऐसा जानता है, ऐसा अभिप्राय है।
: प्रकारसे अपने उसी अध्यात्मरूपको जानता है, जो उसी प्रकार जाननेवाला है
विरज (धर्माधर्म रहित) होकर ब्रह्मप्राप्ति द्वारा मृत्यु रहित हो जाता है,
य शेष है॥ १८॥

ष्य और आचार्यके प्रमादकृत अन्यायसे विद्याके ग्रहण और प्रतिपादनमें होनेवाले
निवृत्तिके लिए अब यह शान्ति कही जाती है—

ाके स्वरूप प्रकाशन द्वारा हम दोनोंकी साथ साथ रक्षा करे। कौन ? उप-
प्रकाशित वह परमेश्वर ही। तथा उसके फल प्रकाशनसे वह हम दोनोंका साथ
लन करे। हम दोनों अपने विद्याकृतवीर्य-सामर्थ्यका साथ साथ संपादन करें-

तेजस्विनोरावयोर्यदधीतं तत्स्वधीतमस्तु । अथवा तेजस्वि नावावाभ्यां तदतीव तेजस्वि वीर्यवदस्तु इत्यर्थः । मा विद्विषावहै शिष्याचार्यावन्योन्यं कृतान्यायाध्ययनाध्यापनदोषनिमित्तं द्वेषं मा करवावहै इत्यर्थः । शान्तिः शान्तिरिति त्रिर्वचनं सर्वदोषोपशमनार्थमित्योमिति ॥ १९ ॥

इति श्रीमदाचार्यशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषाद्भष्ये द्वितीया वल्ली समाप्ता ॥ ३

इति कठोपनिषदि द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

प्राप्त करें । हम दोनों तेजस्वियोंका जो अध्ययन किया हुआ है वह सुपठित हो, हम दोनोंका जो अध्ययन किया हुआ है वह अत्यन्त तेजस्वी-वीर्यवान् हो यह । हम शिष्य और आचार्य परस्पर विद्वेष न करें अर्थात् हम प्रमादकृत अन्यायसे । अध्यापनमें दोष निमित्त अन्योन्यसे द्वेष न करें ऐसा तात्पर्यार्थ है । 'शान्तिः शान्तिः' इस प्रकार शान्ति शब्दका तीन वार कथन आध्यात्मिकादि सब । शान्तिके लिए है, इत्योम् ॥ १९ ॥

कठोपनिषद्के द्वितीयाध्यायकी तृतीयवल्लीका 'स्वामी सत्यानन्द सरस्वती' कृत 'भाषानुवाद' समाप्त ॥ २।३ ॥

सत्यानन्दीदीपिका

है । अर्चिरादि मार्गगम्य जो स्थान है उसकी प्राप्तिसे वह संयोग वियोगवाला है, उससे विमृत्यु नहीं होती ॥ १८ ॥

शून्यत्र्यम्बरनेत्रसंमिततमे संवत्सरे वैक्रमे
पौषे मास्यसिते दले विधुदिने श्रीसोमवत्यां तिथौ
काश्यां जह्नुसुतातटे भगवतः शम्भोः प्रसादादियं
सत्यानन्दसरस्वतीविरचिता व्याख्यागमत्पूर्णताम् ॥ १ ॥
सत्यानन्दीदीपिकया शाङ्करभाष्यभाषया ।
तनोतूद्भासिता ज्ञानं काठकोपनिषन्नृणाम् ॥ २ ॥

कठोपनिषद्के द्वितीयाध्यायकी तृतीयवल्लीकी 'स्वामी सत्यानन्द सरस्वती' कृत 'सत्यानन्दीदीपिका' समाप्त ॥ २।३ ॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः

